॥ श्रीराम ॥

सांसों के सुरभित मनकों पर
तुम राम-राम रटते अकाम
अहरह अणु-अणु-अभिवन्दनीय
बापू ! तुम ही बन गये राम ।

'स्नेही'

अमर अभिलाषा

शक्य-सिद्ध हो कवि न अकिञ्चन, गिरा न मीचा यश-भूषण,
अरस, असुन्दर, अरुचिर रचना विद्वद्वृन्दाननुमोदन ।
किन्तु सहज गौरव प्रदायिनी बापू की पद-धूलि विमल,
छन्द-पात्र सुन्दर कि असुन्दर, तृषिताकांक्षा दो कण जल ।

कवि बनने का मोह न ममता, नहीं लेखनी यश-प्यासी,
देव ! रहे यह मानस-तट का एक अकिञ्चन अधिवासी ।
कवि पावन हो, न हो, किंतु हो कविता चारु चरित गाकर,
कवि सुधन्य हो, न हो, किंतु हो कविता में सत्शिव का स्वर ।

प्रस्तावना

"गांधी-मानस" श्री नटवरलालजी 'स्नेही' का एक सुन्दर प्रबंध काव्य है। आपने गांधीजी के जीवन की घटनाओं को कविता के धागे में पिरो कर उन्हीं के चरणों में अर्पण करने का एक विनम्र प्रयत्न किया है। गांधीजी के जीवन में जो उच्चादर्श और महानता समायी हुई थी, उनके राजनीतिज्ञ, सन्त, दार्शनिक, योद्धा तथा साधक आदि अनेक रूपों में जो सुन्दर समन्वय था, उनका सम्पूर्ण जीवन जिस प्रकार लोक कल्याण की भावना से ओत-प्रोत हो गया था, उसके कारण वे एक लोकोत्तर महापुरुष बन गये थे। इसीलिए तो उनका नाम बुद्ध और ईसा जैसे महापुरुषों के साथ लिया जाने लगा है। इन लोकोत्तर महापुरुषों की जीवन-गाथा पर प्रबन्ध काव्य लिखने की परम्परा बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है। महाकाव्य का नायक तो किसी देवी या धीरोदात्त व्यक्ति को ही चुना जाता रहा है। अतः गांधीजी जैसे महापुरुष पर किसी प्रबन्ध काव्य का न होना एक बहुत बड़ा अभाव था। मुझे खुशी है कि इस अभाव को पूरा करने का पहिला श्रेय मध्यभारत के इस उदीयमान कवि के लिए रहा है।

कवि को 'गांधी-मानस' लिखने की प्रेरणा 'रामचरित-मानस' से मिली है। यद्यपि रामचरित-मानस एक बहुत बड़ा साहित्यिक और धार्मिक ग्रन्थ है। सदियों से वह भारतीय जनता में जीवन का संचार करता आ रहा है वह एक महाकवि की महान रचना है। अतः उसके साथ समता करने की तो कोई कल्पना भी कवि के मन में नहीं रही है तथापि तुलसी के राम की तरह गांधीजी ही कवि के लिए प्रेरणा के स्रोत रहे हैं। तुलसीदासजी को जिस प्रकार 'रामचरित-मानस' की रचना करते समय अपनी अल्पज्ञता का ध्यान रहा है किन्तु साथ ही इस कठिन मार्ग में राम की महानता का एक मात्र सम्बल रहा है वही स्थिति 'गांधी मानस' के कवि की भी है। उसे अपनी सारी कमियां अच्छी तरह मालूम हैं फिर भी उसे बापू की विमल पद-धूलि में पूरा विश्वास है।—

"शक्य, सिद्ध हो कवि न अकिञ्चन, गिरा न ग्रीवा यश-भूषण
अरस, असुन्दर, अरुचिर रचना विद्वद्वृन्दाननुमोदन,
किन्तु सहज गौरव-प्रदायिनी बापू की पद-धूलि विमल,
छन्द पात्र सुन्दर कि असुन्दर, तृषिताकांक्षा दो कण जल।"

राम के लिए यह प्रसिद्ध है कि वे ईश्वर थे। वे धर्म की स्थापना करने के लिए नर-रूप में अवतरित हुए थे। इसीलिए तुलसीदासजी राम

के ईश्वरत्व को कभी नहीं भूले और जब-जब श्रोताओं के मन में उनके प्राकृतजन होने का भ्रम पैदा होने की सम्भावना दिखाई दी तब-तब उन्होंने उसका निराकरण करने का प्रयत्न किया, लेकिन स्नेहीजी के लिए गांधीजी मानव हैं। वे अपनी साधना से, अपनी तपस्या से नर से नारायण बने:—

"पर वह नर, था जिसे कि करना भू पर चारु चरित ऐसे-
अस्थि-चर्म का नश्वर पुतला बनता नारायण जैसे।"

गांधीजी की तपस्या श्रद्धालु कवि की दृष्टि में इस कोटि पर पहुंच गई है कि वे उसे इस युग के प्रभु ही प्रतीत होते हैं:—

"परम्परागत पथ न अलौकिक इस युग के प्रभु को भाया,
इसीलिए श्री कर्मचन्द के घर चुपचाप चला आया।"

कवि का दृढ़ विश्वास है कि राम-राम रटते-रटते गांधीजी स्वयं राम बन गये—

"साँसों के सुरभित मनकों पर
तुम राम--राम रटत अकाम
अहरह अणु-अणु-अभिवन्दनीय
बापू तुम ही बन गये राम।"

कवि इतनी बड़ी श्रद्धा लेकर अग्रसर हुआ है। उसने गांधीजी को समझने और समझाने का अच्छी तरह प्रयत्न किया है। १८ अध्यायों में सारी कथा कही गयी है और किसी घटना को छूटने नहीं दिया है।

स्नेहीजी की भाषा में प्रवाह है, भावों में गहराई है। जैसे-जैसे वे आगे बढ़ते हैं वर्णनों के सजीव चित्र खींचते जाते हैं। 'हरि अनन्त, हरि कथा अनन्ता' की तरह गांधीजी की कथा का भी अन्त नहीं। स्नेहीजी इस अनन्ता को छूने में कहां तक सफल हुए हैं और उसकी गहराई में गोते लगा कर कितने मूल्यवान रत्न निकाल सके हैं इसका निर्णय करना तो साहित्यिक महारथियों का काम है। मैं तो इतना कह सकता हूं कि कवि के कदम सही दिशा में बढ़ रहे हैं और उनमें दृढ़ता है। वह अपने तथा अपने विषय के प्रति सच्चा है, मेरी दृष्टि में यही सफलता का मार्ग है।

मैं आशा करता हूं कि मध्यभारत के इस वर्द्धीयमान कवि की इस प्रौढ काव्य-रचना का हिन्दी जगत में अच्छा आदर होगा।

महिला-शिक्षा-सदन
गांधी-आश्रम
हटूंडी (अजमेर)

हरिभाऊ उपाध्याय
२७-७-५१

लेखक की ओर से--
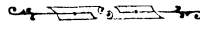
प्रकृति स्वयंमेव तो जड़ है अतः अचेतन है, असत् है और असत् को दूसरे शब्दों में तमस् कह सकते हैं। जड़ में गति नहीं। असत् में तो अन्धकार है ही। किन्तु जब यही असत् प्रकृति अनन्त प्रकाश और आनंद-मय लीलाधाम की लीलास्थली बन जाती है तब यह शिव और सुन्दर बन जाती है। सत्य तो एक मात्र वह लीलामय ही है। जिन क्षणों में वह सच्चिदानन्दघन अपनी पावन केलि से इसे कल-कलित और प्रकाशित रखता है वे क्षण इसके लिए सौभाग्य के होते हैं। अन्धकार तो इसके साथ अनन्तकाल से लगा ही हुआ है दुर्भाग्य की भांति।

किन्तु वह जगन्नियन्ता सहज और अकारण कृपालु है। उसके अनन्त औदार्य को प्रकृति के अन्धकार की शाश्वतता स्वीकार्य नहीं तभी तो वह समय-समय पर भव्य विभूतियों के रूप में अपनी अनन्त प्रकाश-मयी किरणों को पृथ्वी पर उतारा करता है। इन किरणों को ही तो हम भगवान राम, कृष्ण, ईसा और गांधी के रूप में पहिचानते हैं।

प्रभु के प्रकाश को पकड़ पाने के लिए भी पात्रता चाहिए। विश्व को आलोकित और आल्हादित करने वाला दिव्य दिनेश उलूक के लिए वरदान सिद्ध नहीं होता। मानवात्मा भी प्रकृति (पञ्चभूत) के बंधन में आकर प्रकृति-सा जड़ और कुण्ठित हो जाता है। संस्कृति ही उसे स्व-रूप से अवगत करा सकती है। अन्यथा अन्धकार और जाड्य तो उसका स्वरूप बन ही गया है। उलूक के सदृश असंस्कृत आत्मा को भी प्रकाश प्रिय नहीं। इस जड़ता से अभिभूत होकर ही तो हमने ईसा दयानन्द श्रद्धानन्द और गांधी जैसे प्रकाशमान नक्षत्रों को बुझा दिया।

जिनमें पात्रता होती है वे महापुरुषों के जीवन चरित्र सुन और पढ़ कर ही अपने जीवन को महान बना लेते हैं। किन्तु अपात्र अथवा कुपात्र अपनी आंखों के सामने प्रदीप्त प्रकाशपुञ्ज को भी नहीं पहिचान सकते। भगवान कृष्ण को युधिष्ठिर आदि ने ही तो पहिचाना था। दुर्यो-धन ने तो नहीं।

महात्मा गांधी हमारे सामने ही विश्व-बंधुत्व के आदर्श और वैदिक चर्या को आचरित करके चले गये किंतु हम अभागे उनकी महत्ता को नहीं जान सके। चेतन अनन्त में विलीन हो गया, हम प्राकृत अन्धकार के ही उपासक बने रहे अनश्वर सत्य की वह किरण तो अपने केंद्र अनन्त प्रकाशपुञ्ज में जा मिली। और आज हम खारे आंसुओं से अपने कुकृत्यों की कालिमा धोने की विफल चेष्टा कर रहे हैं किंतु अब तो 'चिड़िया खेत चुग गयी।'

गांधी-मानस

राष्ट्र पिता बापू के महानिर्वाण पर विश्व की मानवता ने शोक-संतप्त हृदय से अश्रुपूर्ण अञ्जलियां अर्पण कीं। इस अकिंचन लेखक की दारुण व्यथा 'गांधी-मानस' के रूप में प्रकट होने के लिए विकल हो उठी।

बापू जैसे महामानव के अलौकिक जीवन को छन्दों की कड़ियों में बांध लेने का सामर्थ्य तो किसी महाकवि की लेखनी में ही हो सकता था। यह अकिंचन तो अपने आराध्यदेव के चरणों पर 'पत्रं पुष्पं' चढ़ाने के लिए चला है। श्रद्धा श्रद्धा है। उसमें सामर्थ्य का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। सफलता-विफलता का भी प्रश्न नहीं। यह तो श्रद्धांजलि है। हृदय की दुस्सह्य वेदना का विस्फोट है, रुदन मात्र है। रुदन को भी यदि लोग सङ्गीत के स्वर-ताल पर तोलने के रसिक हों तो यह एक विडम्बना ही होगी। फिर संतप्त हृदय किसी को दिखाने के लिए तो नहीं रोता। रुदन तो हृदय के भार को न सह सकने का परिणाम मात्र होता है। कविरत्न स्व० सत्यनारायणजी के शब्दों में "रुदन धीरज को सदुपाय है।" तो 'गांधी-मानस' के रूप में मेरी पीड़ा ही प्रकट हुई है, धैर्य की खोज में। इसमें कवि कहलाने की महत्वाकांक्षा नहीं।—

"कवि बनने का मोह न, ममता,
नहीं लेखनी यश-प्यासी।"

यह तो 'मति-अनुरूप राम-गुण' का गायन है। सहृदय, कवि-हृदय मानस' को इसी दृष्टिकोण से पढ़ेंगे तो लेखक अपने प्रति सदाशयता समझेगा।

'मानस' का लेखन और प्रकाशन

'गांधी-मानस' लिखने का संकल्प तो मेरे मन में बापू के महा-निर्वाण के बाद ही उठा था किंतु इसके लिए समय और साधन की आवश्यकता थी। मैंने एक पत्र द्वारा श्रद्धेय प्रधान मंत्री पं. जवाहरलालजी नेहरू पर अपने विचार प्रकट किये। उन्होंने 'गांधी-मानस' लिखने की भावना को पसन्द किया और डॉ. राजेन्द्रप्रसादजी से इस सम्बन्ध में पत्र-व्यवहार की सम्मति दी। मैंने (राष्ट्रपति) श्रद्धेय राजेन्द्र बाबू को डेढ़ वर्ष तक आर्थिक सहायता देने के लिए लिखा। उनके सेक्रेटरी महोदय ने सूचित किया कि "गांधी-मानस की योजना सुन्दर है। किंतु सहायता के लिए गांधी-स्मारक-निधि के संग्रह होने तक रुकना पड़ेगा। आशा है, आपकी इच्छानुसार काम बन जाएगा।" मुझे इस सदाशयतापूर्ण आश्वासन से बड़ी प्रेरणा मिली।

इस बीच मैंने मध्य भारत शासन तथा जयाजीराव कॉटन मिल्स के व्यवस्थापक श्रीमान दुर्गाप्रसादजी मंडेलिया से भी पत्र-व्यवहार किया। आदरणीय पं. काशिनाथजी त्रिवेदी ने भी प्रेरणा दी। श्रीमान मंडेलियाजी ने 'मानस' लिखने के लिए तुरन्त ही सहयोग दिया और डेढ़ वर्ष तक नियमित रूप से १२५) मासिक की सहायता प्रदान करते रहे।

मुझे विद्यार्थी जीवन से ही श्रीमान मंडेलियाजी का उदारतापूर्ण सहयोग प्राप्त होता रहा है। 'वेदना' और 'नवरस' का प्रकाशन आपके सहयोग से ही हो सका था। 'गांधी-मानस' के लिए दिया गया आपका सहयोग अत्यन्त महत्वपूर्ण है तथा बापू के प्रति आपकी श्रद्धा और साहित्यनिष्ठा का परिचायक है। ग्रन्थ के प्रकाशन में भी आपने हृदय से सहयोग दिया है। लेखक उनके उपकारों के लिए हृदय से आभारी है।

राजर्षि श्रीमन्त महाराजा तुकोजीराव होल्कर के तो मुझे पर अनन्त उपकार हैं। मेरा नवजीवन ही आपके अनन्त उपकारों का प्रतीक है। 'गांधी-मानस' के रचना-काल में भी आपकी मूल्यवान सहायताएँ प्राप्त हुई हैं। इसके लिए कृतज्ञता के दो शब्दों द्वारा उऋण होने का प्रयास करना कृतघ्नता होगी।

निम्न महानुभावों का भी मैं हार्दिक आभार मानता हूँ जिन्होंने 'मानस' के प्रकाशन में आर्थिक सहयोग दिया और दिलाने का प्रयत्न

किया। श्रीमान सेठ लक्ष्मीनारायणजी अग्रवाल (मन्दसौर), श्रीमान सेठ दामोदरदासजी नागोरी (लश्कर), श्रीमान सेठ ऊँकारजी चुन्नीलालजी (इन्दौर), श्रीमान सेठ बच्चूलालजी (जावरा), श्री सेक्सरिया ट्रस्ट तथा श्रीमान सेठ चन्दनसिंहजी (माळवा मिल इन्दौर), पं. लीलाधरजी जोशी (भू. पू. मुख्य मंत्री म. भा.), राजस्व मंत्री पं. राधेलालजी व्यास, तथा मा. डॉ. देवीसिंहजी (रतलाम)।

प्रकाशन के लिए तो मा. पं. राधेलालजी व्यास का अदम्य उत्साह और साहस ही प्रधान प्रेरणा-केन्द्र रहा है। आप भी मेरे विद्यार्थी जीवन के सहयोगी हैं। मैं उनका आभारी हूँ।

प्रूफ संशोधन में अध्यापक श्री गेंदालालजी पण्ड्या (नागदा) तथा प्रो० श्री देवकृष्णजी व्यास के परिश्रम के लिए मैं उनका ऋणी हूँ। संशोधन के बाद भी प्रेस ने जो अशुद्धियां रखदीं, उनके लिए मेरा मस्तक लज्जा से नमित है। समालोचक सज्जनों से मैं इन त्रुटियों के लिए क्षमा-प्रार्थी हूँ।

मानस-मन्दिर

नागदा कांग्रेस के वयोवृद्ध अध्यक्ष तथा ग्वा. रा. धारा-सभा के भू. पू. सदस्य श्री रामसहायजी गूर्जर तथा उनके पुत्र श्री शिवप्रसादजी ने 'गांधी-मानस' लिखने के उपलक्ष में मुझे एक बीघा भूमि प्रदान की है तथा उन्हीं के प्रयत्न से उसमें छोटी-सी कुटिया के रूप में 'मानस-मन्दिर' का निर्माण हुआ है। मैं उनकी इस सहृदयता के लिए आभारी हूँ।

पर्णकुटी-प्रकाशन की आवश्यकता

पर्णकुटी ने मां भारती के चरणों पर १८ पल्लव चढ़ाये हैं। निरन्तर साहित्य-सेवा पर्णकुटी का लक्ष्य है किंतु प्रेस का अभाव बहुत बड़ी बाधा है। यदि परमेश्वर ने इससे अधिक सेवा लेना चाहा तो वह इस अभाव की पूर्ति करेगा।

मध्यभारत और राजस्थान के वयोवृद्ध तपस्वी नेता पूज्य हरिभाऊ जी उपाध्याय ने अत्यन्त व्यस्त रह कर भी 'मानस' की भूमिका लिखने का जो कष्ट किया है इसके लिए मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। शुभम्

पर्णकुटी
१५ अगस्त १९५१
स्वाधीनता-दिवस

—'स्नेही'

सूची

* ॐ *

श्रीमन्महागणाधिपतये नमः

सुयश-सित शुभ शैलजा-सुत,
शिव-सुरभि, श्री सौख्यदाता,
विपुल विश्वज विघ्नहर, वर—
वरद, व्यापक विधि-विधाता।

कवि कहाऊं मैं न यह—
देवाग्र! किङ्कर की दुराशा,
किंतु कवि-पद-कमल-रज हो—
शिर तिलक, यह ही पिपासा।

गांधी मानस पर लोक-मत

प्रसिद्ध सामाजवादी नेता श्री जयप्रकाशनारायणजी:—

श्री नटवरलालजी 'स्नेही' हिन्दी जगत वालों को अपरिचित तो नहीं हैं। "अन्तर्ज्वाला" "वेदना" इत्यादि रचनाओं से हिन्दी संसार इनकी नवीन प्रतिभा से परिचित हो चुका है। "गांधी मानस" काव्य का रचना भार लेकर 'स्नेहीजी' ने युवकोचित उत्साह दिखाया है। "गांधी मानस" की कुछ पंक्तियां मैंने देखी है और वे मुझे सुन्दर लगी हैं। इस महा प्रयास में नटवरलालजी को सफलता मिले, यह मेरी शुभ कामना है।

२६-१-५०
(नागदा स्टेशन पर ट्रेन में)

प्रो० श्री गुरुप्रसादजी टण्डन

(अध्यक्ष हिन्दी विभाग, विक्टोरिया कॉलेज, ग्वालियर)

'गांधी मानस' के प्रारम्भिक अंश तथा शैशव—प्रकरण को मैंने पढ़ा है। अति सुन्दर तथा उदात्त है। भाषा में भी सात्विकता तथा प्रवाह है। अभी तो ऐसा प्रतीत होता है कि घटनाक्रम के वर्णनात्मक रूप पर 'स्नेही' जी ने विशेष ध्यान दिया है। काव्य प्रकाशित होने योग्य है। जनता में अवश्य सफल होगा।

५-२-१९५०
(ग्वालियर)

ॐ

श्री सरस्वत्यै नमः

दिव्यादित्याभाभूषित तन
शशि-मुख, कमल-नयन, पद्मासन,
शरद्-हास, कल हंस सुवाहन,
विविध स्निग्ध नव सुमन विभूषण।

सरस बीन कर बर, सुवरद स्वर,
कल्पलता, कमला, कमनीया,
ज्ञान-रश्मि पद्-नखमण्याभा,
जाड्य-निशा-घन-तम-शमनीया ।

भव्य भारते ! चिर अभावमय—
मूक गिरा, दृग शून्य विचर्चित,
अभूषिता, अरसा वाक्यावलि
पद पर सह सङ्कोच समर्पित ।

हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान प्रो० इन्द्र विद्यावाचस्पतिः--

श्री नटवरलाल 'स्नेही' नवीन भारत के उन कवियों में से हैं, जिनपर गांधीवाद की पूरी छाप है। प्रायः युवक कवि तीव्र समाजवाद के प्रवाह में बह जाते हैं। 'स्नेहीजी' की साहित्यिक भावना ने उन्हें सीमा से बाहर नहीं जाने दिया है। इस दृष्टि से उनका नया काव्य "गांधी मानस" एक संयत कल्पना शक्ति का अच्छा नमूना है। आपकी भाषा साहित्यिक ओज से युक्त है और विचार प्रवाह गांधीवाद के तटों में से होकर चलता है। आपका यह नया काव्य साहित्योद्यान का उत्तम पुष्प होगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

१५-३-५०

(दिल्ली)

राष्ट्र कवि पं० बालकृष्णजी शर्मा 'नवीन'

मैंने "गांधी मानस" के रचयिता श्री नटवरलालजी 'स्नेही' के मुखसे उनके इस ग्रन्थ की कई पंक्तियाँ सुनी स्नेहीजी सरस्वती के उपासक हैं और वे अपनी साधना में निष्ठा पूर्वक लगे हुए हैं। उनकी रचना में प्रसादगुण है। निष्ठा है और गांधी के सदृश महा मानव को समझने एवं समझाने का प्रयास है। नटवरलालजी में प्रबन्ध काव्य की क्षमता का उदय हो रहा है और मैं इसका स्वागत करता हूँ।

गांधी को पकड़ पाना कठिन है। मैंने एक बार गांधी के सम्बन्ध में कहा था "वह तो एक पहेली है।" जीवन और मरण दोनों में गांधी महान था। उसका गुण-गान करके नटवरलालजी ने अपनी कवि-प्रतिभा को धन्य किया है। मैं 'गांधी मानस' की सफलता का आकांक्षी हूँ। उसका प्रचार देश में होगा, ऐसा मेरा विश्वास है। मैं श्री नटवरलालजी को इस सत्प्रयत्न के लिए बधाई देता हूँ।

१६-६-५०

(नई दिल्ली)

मूकंकरोति वाचालम्

पङ्गु मैं, गिरि—पथ, गहन वन, वेदना अवसाद के घन,
शून्य वेला, मैं अकेला, लक्ष्य के प्रतिकूल लक्षण।
विपुल पातक की शिला शिर, देव! तब कैसे तिरूँ मैं?
सिन्धु की स्नेहोर्मियों पर समुद अवगाहन करूँ मैं?

सत्य की तप अग्नि में तृण—
तुच्छ तपना चाहता है,
अद्रिपति के, क्षुद्र रज-कण—
को न गौरव का पता है।

किन्तु हूँ, विश्वास—फल की, जानता कैसी लता है?
दनुज तक्षक भी शरण के मर्म को पहिचानता है।
मूक हूँ, मेरी गिरा तुम, अन्ध हूँ, तुम दिव्य लोचन,
बीन हूँ मैं, सरस स्वर तुम, नीर हो तुम और मैं घन।
(प्राण हो तुम और मैं तन)

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के पू० अध्यक्ष

पूज्य गोस्वामी गणेशदत्तजी महाराजः-

कविवर श्री नटवरलालजी 'स्नेही' का "गांधी मानस" देखा। गांधी युग का यह एक अभिनव मौलिक महा काव्य है। हिन्दी में चन्द वरदाई ने महा काव्यों कि जिस परम्परा को जन्म दिया था वह जायसी, तुलसी, प्रसाद, हरिऔध, मैथिलीशरण की वर वाणी से प्रस्फुटित होती हुई 'स्नेही' के 'गांधी मानस' के रूप में अवतरित हुई मुझे प्रतीत हो रही है। "अन्तर्ज्वाला" और "वेदना" के कवि हृदय को पूर्ण रूप से अभिव्यक्त होने के लिए "गांधी मानस" ही एक मात्र आधार हो सकता था। "गांधी मानस" में गीता के आजीवन अनुगामी बापूजी के आदर्श जीवन और सत्य-अहिंसा के आदर्शों की पूर्ण झाँकी मिल जाती है।

जिस प्रकार राम नाम के साथ तुलसी का "राम चरित मानस" अमर है उसी प्रकार गांधी के नाम के साथ 'स्नेही' का "गांधी मानस" भी अमर होगा, यही मेरी आत्मिक शुभ कामना है।

१६-४ ५१

पर्णकुटी, नागदा

माननीय सेठ गोविंददासजी

(भूतपूर्व अध्यक्ष-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन)

श्री नटवरलालजी 'स्नेही' के 'गांधी मानस' के कुछ अंश को मैंने सुना। रचना सुन्दर है।....गांधी—साहित्य में "गांधी मानस" भी अपना उचित स्थान पावे, यह मेरी कामना है।

२०-३-५०

नई दिल्ली

सम्भवामि युगे यगे

विदिशाओं के एक देश में होकर उदित दिनेश—
करते नित प्रति निखिल सृष्टि का अन्धकार निश्शेष।
प्राची–उदर–प्रसूत प्रभाएँ सकल सृष्टि–सम्पत्ति,
रवि-शशि में प्रादेशिकता की नहीं संकुचित वृत्ति।

नहीं मलय मलयाचल के ही भरता हृदय विमोद,
सम सर्वत्र बरसते सुख–कण शीतल सुखद पयोद।
शतदल सब के स्मित-सौरभ से करता प्रमुदित प्राण,
किसका हृदय न झङ्कृत करती मधुऋतु की मुसकान?

सब के लिए वत्सला मां की बिछी हुई है गोद,
पुलकित, पुष्पित, फलित लता–तरु देते किसे न मोद!
ऊषा–संध्या सौख्य–प्रदा सम, कल–कल सुरसरि–धार,
पावन पुण्य प्रकृति के उर में कब वैषम्य विकार!

हो न किसी लिप्सा के विष से विकल विश्व परिवार,
इसी लिए तो सत्पुरुषों का होता है अवतार।
पतझड़ ग्रस्त प्रकृति के मुद को आता मधुर वसन्त,
विद्वेशाग्नि-विदग्ध विश्व को शीतल करता सन्त।

सन्त देश-दिशि-काल-अबाधित, सब भू पुण्य पवित्र,
मुकुलों के मधु के हो जाते कितने मधुकर मित्र?
जब जब मानव मनोदशा में आता कलुष विकार—
स्वार्थों की ज्वाला में जलने लगता है संसार—

तब तब संत-हृदय-पयधर की प्रेम-सलिल बरसात-
प्रलय निशा का निराकरण कर लाती रम्य प्रभात।
विश्व—बंधुता की सरिता के सत्य—अहिंसा तीर,
पद-पद प्रमुद प्रेम के पनघट, सुरभित मलय-समीर।

संत न हिंदी, अरबी, इंग्लिश, चीनी, रशियन रक्त,
उसके स्नेह-स्निग्ध लोचन में मानवता न विभक्त।
उसका दया-द्रवित उर सुनता सबकी करुण पुकार,
उसकी ममता की सीमा में प्राणि मात्र परिवार।

सुधा भरे वसुधा के उर पर वैलासिक विष धार—
शोषण, दमन, निरङ्कुशता का बढ जाता जब भार—
दुर्विचार-घन आवृत होता ईश्वर का अस्तित्व—
भौतिक सुख ही बन जाता जब मनुज-धर्म का तत्व—

संत ज्ञान की ज्योति जगा तब
कर विद्वेश अशेष—
स्नेह साम्य का सरस स्वरों में
देता शुभ सन्देश

❋ श्रीराम ❋

गाँधी-मानस

प्रथमोर्मि

बिन्दु १
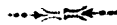
कृष्णचन्द्र के मन-मानस की मैत्रि-कौमुदी जहाँ खिली-
सुहृदय-स्नेह की विमल विभामय दिव्य-दीपिका जहाँ जली-
जहाँ भक्त की भक्ति-भावना हुई पुष्पिता और फली-
जहाँ दया बन पावन प्रभु के उर की तुहिन-शिला पिघली-

जिसकी शुचिता प्रेम-सुधा की धवल धार से कभी धुली-
जिसकी शुभ्र सुकीर्ति शरद की स्निग्ध चन्द्रिका-सी उजली-
नीर न, मधुमय दुग्ध गगन से जहाँ बरसती थी बदली-
मुक्ता लेकर क्षीरसिन्धु की लोल लहरियाँ थीं मचलीं--

उसी सुदामा नगरी में श्री कर्मचन्द गाँधी के घर
किया देवकी-सा मोहन ने पुतली माँ का धन्य उदर ।
मङ्गल गीतों से गुञ्जित घर, परिजन, प्रियजन पुलकित मन;
किसका हृत्मधुकर न प्रहर्षित पाकर शतदल-सा शिशु-धन !

वाद्य, बधाई का, उत्सव का अधिक न परिचय आवश्यक;
दो हृदयों के मुद के ही तो परिचायक होते बालक ।
प्रति जननी, प्रत्येक पिता को स्वाभाविक सुख का होना;
प्रातः कलिका के खिलने में क्या कोई जादू-टोना ?

नहीं प्रकृतिने पर इस अभिनव उत्सव को नव साज सजा,
पुष्प-वृष्टि को व्योम न उमड़ा, किसी न सुर का वाद्य बजा।
आया, नित्य कि आता है ज्यों रवि-रथ जोड़े अरुण-रथी;
थीं वे ही चिरपरिचित किरणें, कोई नन्दन-नटी न थी।

खिलीं लता-तरुपर मृदु कलियां, खिली न कोई स्वर्ण-कली;
वे ही ग्रह-नक्षत्र-राशियां, वे ही रवि-शशि, नभस्थली।
"क्यों? क्या इस नव-आगत शिशुसे रम्य प्रकृति को राग न था?
कल्प वृक्ष के इस सुमनोहर अंकुर से अनुराग न था?"

नहीं नहीं, यह बात नहीं कुछ, जड़ चेतन सब प्रमुदित मन,
श्रद्धायुक्त प्रकृति, सुर, किन्नर किन्तु मौन था अभिनन्दन।
"क्यों कुछ लज्जा थी?" न लेखनी! हो इतनी संशयशीला;
करने आया था न भूमिपर नारायण नरकी लीला।

पर वह नर, था जिसे कि करना भूपर चारु चरित ऐसे——
अस्थि चर्म का नश्वर पुतला बनता नारायण जैसे।
परम्परागत पथ न अलौकिक इस युग के प्रभुको भाया——
इसीलिए श्री कर्मचन्द के घर चुपचाप चला आया।

नहीं शेष को, शिवको, विधिको, प्रकृति नटी को कष्ट दिया,
पुतली के प्रेमाविल उरमें एकाकी आलोक किया।
मां पुतली, पुतली थी गुणकी, सांस-सांस जिसकी प्रभुमय;
स्वयं भक्ति अवतरित हुई थी लेकर श्रद्धा और विनय।

सत्य प्राण था स्पन्दित उरका, धर्म-अस्थि-तन-रक्त प्रचुर;
ईश्वर प्रेम प्रकाशित रहता था अविकल वह उज्ज्वल उर।
प्रति धड़कन थी व्रतमय जिसकी, क्षण-क्षण संयम का अनुचर,
देह न थी वह अस्थि-चर्म की, तपो भूमि थी पुण्य प्रखर।

तपोभूमि में ही वेदों की पुण्य ऋचाएँ हुईं प्रकट,
तपोभूमि में ही था प्रकटा वैदेही का स्वर्णिम घट।
तपोमयी कौशल्या को ही मिला राम-सा सुघर-सुवन,
तप से ही था मिला देवकी को घनश्याम मनोमोहन।

तपोभूमि में ही राघव के, मिला शौर्य का था परिचय;
तपोभूमि के सफलित होने में होता किसको संशय?
तप जाने पर ही वसुधापर छाया करते शीतल घन;
क्या आश्चर्य मिला यदि पुतली माँ को भी प्यारा मोहन!

मुक्तावलि को सीप चाहिए, रवि को, शशि को नभस्थली;
मानस के अतिरिक्त न देखी खिलते जगने कमल-कली।
क्षुद्र नालियों के कंकर से कभी न मुक्ता-माल बनी;
योग्य पुत्र के लिए चाहिए वैसी ही विदुषी जननी।

मोहन का सौभाग्य कि जिसको पुतली माँ का मिला उदर;
पुतली का सौभाग्य कि पाया मोहन, यश जिसका मधुकर।
नीर-कमल-सा अन्योन्याश्रित अथवा दोनों का गौरव;
कुछ भी हो, वरदान हुआ जगको मोहन का प्रादुर्भव।

बिन्दु १

मोहन का शैशव संवर्धित माँ के मृदु ममताञ्चल में;
कमल-कली खिलती है जैसे मानस के ऊर्मिल जल में।
स्वाभाविक शैशव-क्रीड़ाएँ निष्कृत्रिम, निर्मल, निश्छल;
कलित हास किलका करता था जैसे निर्झर का कल-कल।

तुतलाती मधु-आविल वाणी, ठुमुक ठुमुक घुटने चलना;
स्नेह तरङ्गित पितृ हृदय के पावन पलने में पलना।
कैसे दें उन व्यवहारों को नव उपमानों से समता?
होती ही है सभी पिता-माता की पुत्रों पर ममता।

शैशव-कलिका को वय-क्रमने किया सुवासित स्निग्ध सुमन;
हुआ विमोदित नव स्मितियों से पुतली के घर का आँगन।
रज-कण में क्रीड़ित प्रकाश को नगरवासियों ने देखा;
किसके दृग में चकाचौंध भरती न चपल विद्युद्रेखा?

भेजा जाता है मोहन शिशु शिक्षालय में शिक्षण को;
ज्यों स्मृत्याभा मलिन स्वर्ण ज्वाला में नये परीक्षण को।
साधारण शिशु-सा था वह भी शाला जाते सकुचाता;
और गया तो पढ़ना-लिखना मन को अधिक नहीं भाता।

नहीं कलाएँ सभी सीखनी थीं केवल चौंसठ दिन में;
वय क्रम से ही ज्ञान-विवर्धन होना था नर-जीवन में।
सुन्दर वृक्षों-वेलड़ियों के अंकुर भी होते सुन्दर;
शारदीय सुषमा के पहिले निरभ्र हो जाता अम्बर।

दिनकर के उगने के पहिले जगती पर ऊषा आती;
आम्रवृक्ष पर पूर्व कोकिला, हैं मञ्जरियाँ मदमाती।
पलने में ही सत्पुरुषों के दिखते प्रकृति के लक्षण।
किन्तु न प्रथमें उसमें ऐसी विशेषता के थे दर्शन।

श्याम बीज में कपास के है सित रुई न होती लक्षित;
और बाल के सुन्दर बीजों में न शूल होते दर्शित।
मोहन की प्रतिभा न प्रकट थी इसी भाँति शैशव वय में;
अतः न दी जा सकती कोई विशेष बातें परिचय में।

थी ललाट पर विस्मयकारक अंकित विधि की रेख नहीं,
नर-तन में देवत्व ढालने का अभिष्ट अतिरेक नहीं।
शिक्षालय में लगे विवर्धित होने शुभ्राशुभ अंकुर;
सङ्गति के संस्कार पड़ा ही करते हैं प्रति बालक पर।

कभी बोलता उत्तम वाणी और कभी दुर्वाच्य वचन;
उर्वर भू पर उग जाते हैं जैसे बोए जाते कण
श्वेत पत्र पर काला-पीला, हरा रङ्ग जैसा डालो;
कञ्चन के कङ्कण या मुद्रा या कृपाण, जो कुछ ढालो।

उसके ऊपर भी गुण-अवगुण होते जाते थे अंकित;
छोटा-सा शिशु क्या पहिचाने क्या है अनुचित और उचित?
खेतों में जल की धारा को जिधर मिले पथ, मुड़जाती;
वह न जानती-शूल पनपते अथवा लतिका मुरझाती!

शैशव तो प्रवाह भावों का, उसे चाहिए पथ केवल;
वह न जानता-रेणु मिलेगी या रत्नाकर का अञ्चल!
किन्तु लगा ज्यों किशोरता में होने शैशव परिवर्तित—
लगा सदन के संस्कारों से मोहन भी होने संस्कृत।

सन्माता के सत्शिक्षण से जाते उसके पुत्र सुधर,
निपुणकरों से शिल्पी के, प्रस्तर बनते प्रतिमा सुन्दर ।
उन्नतिशील हृदय था वह तो, क्यों न बदल देता निज पथ !
कब तक बादल की कारा में बन्दी रह सकता रवि--रथ

अब से हुआ प्रात-सा उसका सदज्ञानालोकित अन्तर—
मानलिया तब से ही उसने मात्र सत्य को ही ईश्वर ।
लगा उसी अनुरूप सुसंस्कृत होने पद्मोपम मृदु मन,
दृग में लगे विहरने अविकल हरिश्चन्द्र, सद्भक्त श्रवण ।

रह--रह हरिश्चन्द्र का अपनी प्राण-प्रिया, सुत का विक्रय—
ऋण-विमुक्ति को अंत्यज के करमें बिक जाने का निश्चय,
दिनमें दृगमें चल-चित्रों-सा दृश्य बसा रहता अविकल;
सपनों में मरघट के प्रहरी की दृढ़ता रमती निश्चल ।

एक सत्य के लिए कर्म नीचातिनीच स्वीकार्य उसे;
पुत्र-मृत्यु पर भी 'कर' लेना आवश्यक, अनिवार्य उसे ।
एक ओर उस प्राण प्रिया का सुत-शोकाकुल मातृ हृदय;
पितृ हृदय की ममता विगलित, दृग में सावन-घन-सञ्चय ।

सम्मुख ही कर्तव्य खड़ा था सत्य-दण्ड लेकर करमें,
पर अचलोपम हृदय, गिरा दृढ़, कम्प न था जिसके स्वर में ।
कभी सुकोमल मोहन के मन बस जाता था भक्त श्रवण,
अविलोचन पितु-मां की सेवा में जिसका तन मन अर्पण ।

सेवा, मात्र निरंतर सेवा, सेवा धन, सेवा स्पन्दन,
कावड़ को कंधोंपर लेकर सदा कराना तीर्थ-अटन ।
ऐसे सद्भावानुरूप ही ढलता जाता था मोहन,
दृश्याकृति अनुरूप चित्र में आते गिरि-तरु-सरिता-घन ।

गुरुजन के प्रति श्रद्धा-आदर यद्यपि उसका लक्ष्य रहा—
किन्तु सत्य-विपरीत उसे था स्वीकृत उनका भी न कहा।
एक बार उसकी शाला में एक निरीक्षकजी आये,
सब शिशुओं से अंग्रेजी में पांच शब्द थे लिखवाये।

एक शब्द को शुद्ध नहीं था मोहन बालक लिख पाया;
सहपाठी की प्रतिलिपि को शिक्षक ने चुपसे समझाया।
चौर्य कर्म, पर सत्यपरायण मोहन को कब था स्वीकृत!
एक मूर्ति मण्डित प्रस्तर पर, अन्य दृश्य क्या हो अङ्कित!

दुग्धपूर्ण छलछलते घटमें,
बिन्दु गरल अवकाश कहां?
निशिकी रहे कालिमा कैसे,
दिव्य दिवाकर उदित जहां?

पाणि-ग्रहण

बिन्दु ३

—:—
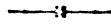
तेरह वर्षों के मोहन की थी विवाह की तैयारी;
पिता समुत्सुक थे—वसंतमय देखूँ अपनी फुलवारी ।
राजकोट से पुरी सुदामा वह गाँधी परिवार चला;
दुल्हा बनने की उमङ्ग में मोहन-मन—अरविंद खिला ।

हल्दी के उपटन से मार्जित हुआ सुशोभित कुन्दन तन;
केसरिया बाना हर्षोर्मिल उरमें करता आन्दोलन ?
गुड़िया-सी कस्तूराबाई, गुड्डेराजा थे मोहन;
मातु-पिता-मन सुख-जल—चातक, स्नेह-स्निग्ध लोचन थे घन ।

विवाह—वेदीपर मण्डप मे नवल वधू का पाणि—ग्रहण;
किसे ज्ञान था—दो हृदयों की यहाँ एक होती धड़कन ?
किसे भान था—जीवन की दो सरिताओं का यह सङ्गम ?
मात्र जानते थे—विवाह की यह ही विधि है, यही नियम ।

विज्ञ नहीं थे दोनो शिशु उर—क्या होते हैं प्रेम-प्रणय ?
क्या होता है दम्पतियों के अन्तर्भावों का विनिमय ?
मङ्गल गीत हुए, द्वारों पर सुन्दर वन्दनवार सजे;
देखा और सुना दोनों ने विविध मनोहर वाद्य बजे ।

पात्र समझते थे दो दोनों उसके, जो कि हुआ अभिनय;
किन्तु नहीं था सूत्रधार को परिणय की विधि से परिचय ।
किया सुआयोजित भाभी ने मधु—रजनी का आयोजन;
देवर को गार्हस्थ्य धर्म का शुकवत् रटा-रटा शिक्षण ।

असमञ्जस के अंधकार में, जहाँ कि अनुभव के न दिये;
दोनों अनिपुण नाविक उतरे क्षुब्ध सिन्धु में नाव लिये।
चार लजीले नयन—नृत्यरत दो हृदयों की आतुरता;
नहीं ज्ञान था बीज पड़ा कब और उगी कब स्नेहलता!

बीती निशि, बीते दिन, महिने, युग-युग छोटे-से क्षण से,
दो लहरें मिल रहीं परस्पर एक-दूसरे स्पन्दन से।

× × × ×

मोहन को था जँचा देखकर लेख निबंधादिक कृतियाँ;
एक पत्निव्रत पुरुष रहें सब और पत्नियाँ शुचि सतियाँ,
"सती नारियों के, पतियों को रहें सदा अर्पित तन-मन।"
...और तनिक पुरुषाभिमान का भी था अन्तर में आसन।

"पुरुष सदा पतिदेव निरकुंश" यही मान्यता थी मन में;
वह न जानता-कितना अन्तर विमल प्रेम में, शासन में?
आविर्भाव न कभी श्रद्धा का, ज्ञान न था, होता कह-कह;
प्रेम शर्करायुक्त दुग्ध औ' शासन तीखा शूल दुसह।

प्रेम न अंकुश या प्रभाव से कभी कहीं उद्भूत हुआ;
स्नेहांगुलियों ने ही उसकी शुचिता को है सदा छुआ।
जहाँ हुआ विश्वास कि श्रद्धा अपने आप उमड़ आती;
ज्यों दिनकर के शुभ स्वागत को लतिका कलियाँ भरलाती।

उर न प्रेम तो मिठी वाणी जीत न सकती अन्य हृदय;
खारे सागर का न पूछता प्यासा चातकदल परिचय।
कस्तूराबाई में स्वाभाविक शैशव का अल्हड़पन,
ज्यों कि उच्छंलित जलधारा में वायु-तरङ्गों का मिश्रण।

मोहन नहीं चाहता—जाए कभी कहीं वह अन्य सदन;
पर प्रतिबंधों से अवरुद्ध न होता था बहता जीवन।
वह निर्मल थी, होती जितनी गङ्गा की धारा निर्मल;
इसी भाँति बहती छलछलती अविकल गाती सी कल-कल।

सदा प्रवाहित रहने वाली, थी वह शुचि सरिता का तट,
मोहन को था इष्ट—रहे वह प्रेम—वापिका का पनघट।
इसी भाँति चलता रहता था प्रिय - प्रिया में संघर्षण;
प्रेमपूर्ण थी पर यह गति-विधी, प्रेम-अग्नि में कहाँ तपन?

संघर्षण रहते भी उनमें यह नहीं कि माधुर्य न था,
होते देखा मधुर दही या सागर-मंथन नहीं वृथा।
साधारण वाचिक कटुता में छिपी हुई थी प्रेम—कथा;
सुमन-सुरक्षा को ही उगते भू—कमलों में शूल यथा।

मोहन था आसक्त नवोदित कलिका पर जैसे मधुकर;
क्षणभर को भी मन न कभी लगने पाता घर के बाहर।
स्वर्णिम दिन की, प्राण—प्रिया की विछोह—वेला भार बनी;
इस चकोर को दिवस, निशा था, मधुर मिलन का दिन, रजनी।

प्रात हुआ बस लगी प्रतीक्षा- सूर्य प्रभा कब जाती है?
कब निशि नीलम की थाली में मुक्ता-माल सजाती है?
एक दिवस के चार प्रहर भी चार कल्प—से थे लगते;
चलते-फिरते दिन भर दृग में निशि के ही सपने जगते।

और मिलन की रात निमिष-सी, क्षण सी छोटी बन जाती।
प्यासे ही रह जाते दो उर, प्यास नहीं बुझने पाती।
मृदु वाणी से अन्तर्भावों की न ग्रंथि खुलने पाती;
दो प्रेमीजन की छाती पर आकर ऊषा इठलाती।

पर कर्तव्यपरायण मोहन की दिनचर्या थी सुन्दर,
बाह्य कर्म में निरलस था वह, मन में चाहे विषयाङ्कुर।
सन्निष्ठा, परमात्म-प्रतिष्ठा का हो जिसके उर आसन,
पतनोन्मुख होकर भी उसका मार्ग बदल देता जीवन।

जिसे समझता है परमेश्वर जग की मूल्यवान थाती—
प्रलय—अग्नि में भी है प्रह्लादों की रक्षा हो जाती,
विषय वासनासक्ति-भ्रमर ने जब-जब उसको घेर लिया—
प्रभुने समय समय पर तब-तब उसे विरह-अवकाश दिया।

विद्यार्थी मोहन

बिन्दु ४

उच्च श्रेणियों में जा, मोहन की सुषुप्त प्रतिभा निखरी;
मेघानावृत नभपर जैसे शुभ्र चन्द्रिका हो बिखरी ।
प्रेम-पात्र था वह गुरुजन का, प्रथम-प्राय निज कक्षा में;
छात्र-वृत्तियों का सुविजेता, दक्ष सुचारित-सुरक्षा में ।

सदाचार, सद्व्यवहारों में त्रुटि न सह्य उसको तिलभर;
एक लक्ष था—पतित नहीं हो पाए मानवता का स्तर ।
जाना पड़ता यदि अपराधी बन कर शिक्षक के सम्मुख—
नहीं दण्ड का, पर होता था दण्ड—पात्र बनने का दुख ।

जीवन-पथ पर निपुण पथिक-सा था वह सँभल-सँभल चलता;
दिनकर-द्युतियों को अञ्चल में लेकर था दीपक जलता ।
शाला में था देहोन्नति को क्रीड़ादिक का दैनिक क्रम;
किन्तु लजीले सङ्कोची को रुचता था वह नहीं नियम ।

नहीं ज्ञान था—विद्या को आवश्यक तन-बल-सञ्चय क्या ?
भौतिक बल से बौद्धिक प्रतिभा का अनिवार्य समन्वय क्या ?
किन्तु नित्य वह प्रातः संध्या प्राण—वायु के सेवन को—
समुद अटन के लिए निकल ही जाता था कुसुमित वन को ।

संसृति की शाश्वत सुन्दरता शुचिता लेकर जहाँ खिले;
पुष्पित तरुओं से लतिकाएँ कर पसार कर जहाँ मिलें,
स्वतंत्रता के आस्वादित मन मृग-शावक सुख से विचरें;
चहक-चहक कर पञ्छी अपने जीवन पर अभिमान करें ।

पुण्य-प्रकृति के रम्याञ्चल में जहाँ मुक्त स्वच्छन्द पवन—
सुखद अटन से सुगठित रखने पाया था वह अपना तन।
क्रीड़ा के क्रम में अनुपस्थिति का था एक और कारण—
पूज्य पिता की सेवामें वह दुसह विघ्न आता था बन।

ख्यात पूर्व से ही वह सद्गुण--सञ्चित होकर था आया;
इसीलिए थी प्रति गति-विधि में सत्य-निष्ठता की छाया।
एक बार शिक्षक ने शाला चार बजे था बुलवाया;
मेघावृत नभ में न समय का उसे ध्यान रहने पाया।

नियत समय पश्चात् देर से जब वह शाला में पहुँचा—
सत्य बताने पर भी गुरु की कोप-अग्नि से नहीं बचा।
अर्थ-दण्ड-दण्डित होने पर उसका मृदु मन हुआ विमन;
होता है दुस्साध्य व्याधिका एक मात्र, उपचार 'सहन'।

चिंता थी उसको न तिरस्कृति अथवा दो पैसों का भय;
यही दुःख था—हुआ उन्हें क्यों उसके बचनों पर संशय!
किन्तु अन्त उस सत्य-व्रतीने किया सत्य को प्रतिपादित;
अर्थ-दण्ड को लौटाने को हुए सुशिक्षक थे बाधित।

इसी भाँति होता जाता था सद्भावों का संवर्धन;
शतदल में मधु-सा जीवन में सत्य-सुधाका सम्मिश्रण।
समय-सलिल, घटना-घर्षण से उज्ज्वलतर अन्तर्दर्पण—
होता जाता था ज्यों ज्वाला में तपकर निर्मल कञ्चन।

दुस्सङ्गति

बिन्दु ५
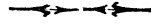
रम्य वाटिका के अञ्चल में जहाँ कि खिलती हैं कलियाँ,
वहीं कहीं से आ ही जाते कीट काटने पंखुड़ियाँ ।
निविड़ निशा के अँधकार में ज्योतिर्मय दीपक जलता,
किन्तु शिखा के उज्ज्वल शिर पर है कलङ्क-काजल पलता ।

शुचि सुधांशु के सित मुखपर भी अपयश की काली रेखा;
अंशुमालि की प्रतिभाओं पर भी शतबार ग्रहण देखा ।
शत-शत बार शरद की शोभा पर देखे काले बादल;
देखा है वसंत की कलियों के दृग में भी करुणा-जल ।

धूलिकणों के जम जाने से दर्पण हो जाता मैला;
मेघावृत न सुहावन होती प्रातः की सुन्दर वेला ।
दादुर-सङ्गति से वर्षा में कोकिल का मृदु मञ्जुल रव—
मधुऋतु की मादकता खोकर देता श्रुति को अन्तर्दव ।

दुस्सङ्गतियों से मोहन को रुचा अशुचि आमिष-भक्षण;
उत्थित, संस्कृत मानवता के घोर पतन का जो लक्षण ।
घृणय और पैशाचिक विधि से भौतिक-बल-सञ्चय का भ्रम—
एक ग्रास में निगल गया वैष्णवता के आचार-नियम ।

मांस देखने से ही जिसको हो जाता था कभी वमन—
पाप कृत्य का, कभी स्वप्न में भी न सोचता था जो मन—
मिथ्या भ्रम-मोहित मोहन ने आज किया था दुस्साहस;
नहीं पतन उन्मुख मानवका रहता है निज मन पर वश ।

प्रथम बार जब बलात् ठूँसा मुख में आमिष का टुकड़ा—
लगा कि-उदरान्तर में 'बें-बें' करता बकरी का बछड़ा।
बार-बार के प्रयोग से पर वह उसका अभ्यस्त हुआ;
लगता था दुर्ज्ञान-विवर में प्रातर्दिनकर अस्त हुआ।

परिवर्धित होता जाता था अनुदिन अशुभ अमङ्गल अथ,
उधर नीर नित बहने लगता जिधर बना लेता है पथ।
आस्वादित विषयों से इन्द्रिय की न कभी रुचियां भगतीं;
चर्मकार को ज्यों कि चर्म की गंध नहीं अप्रिय लगती।

सत्यनिष्ठ था पर वह अतः न छद्म उसे था सह्य कभी;
सत्य ज्योति के सम्म असत-तम होता क्या संग्राह्य कभी ?
धर्म परायण पितु-माता को हो जाए यदि वह अवगत;
हुआ कि उनकी आशा का धन मोहन आमिष-भक्षणरत।

"निस्संशय वे एक निमिष भी रह न सकेंगे फिर जीवित,"
इसी दुसह आशङ्का से था हुआ हृदय उसका कम्पित।
सत्य सुरक्षा, जननि-जनक के जीवन के संरक्षण को,
तिलाञ्जली देदी मोहन ने सत्वर अशुचि अभक्षण को।

सत्य ईश की अनुकम्पा से उसका प्रकृत प्रवाह मुड़ा;
एक बार फिर गजको प्रभु ने व्यसन-ग्राह से लिया छुड़ा।
धूलि धुली सद्ज्ञान-नीर से, हृदय हुआ फिर दर्पण-सा,
मारुत-नन्दन-सम्मुख ठहरे क्या कोई असुरा-सुरसा ?

पुनः पतन-पथपर

बिन्दु ६

होता है विनिपात चतुर्मुख जब विनाश के दिन आते;
गिरि से लुढ़के पत्थर नीचे को ही हैं ढलते जाते।
पत्थर की गुरुता से लकड़ी डूबा करती है जल में;
रज-कण स्वल्प कलंक न लगता शुभ्र वसन के अञ्चल में?

किन्तु भाग्य से प्रभु-पद-पतिता सुरसरि को शिव-शिर मिलता,
कुम्भकार के आवे में बिल्ली का बाल नहीं जलता।
दुस्सङ्गति से प्रेरित मोहन विषय-वासनासक्त हुआ,
दुष्तृष्णा-परितृप्त्युत्सुक हो वेश्या का पर्यंक छुआ।

जैसे विषधर-दंशित जनको लगता कड़ुआ नीम मधुर,
विषयों से अभिभूत मनुज का हो जाता है कलुषित उर।
पर परमेश्वर को मोहन का स्वीकृत पतन-प्रमाद न था,
सात्विकता को वह वैलासिक कामुक अभिनय याद न था।

रम्या रमणी की शैया को उसका छूना हुआ वृथा,
मूक गिरा, संकोच दृगों में, स्तब्धप्राय तन, क्लीव यथा।
निपुण नवोढ़ा नारी, जिसने शत-शत जीवन नष्ट किये,
जिसकी सुन्दता थी कितने बुझा चुकी देदीप्य दिये।

नागिन-से खरतर वचनों के शरजालों को बिखराया,
मोहन का तारुण्य तिरस्कृत होकर घर बाहर आया।
थी दुत्कार न, तप्त शलाखें दागों थीं कोमल उर पर,
सिद्ध हुई पर यही शलाखें उन्नति पथ पर अनुपम वर।

वीर पार्थ को गंधर्वों का शाप ज्यों कि वरदान हुआ,
मोहन को यह तिरस्कार भी सिद्ध श्रेष्ठ सम्मान हुआ।
अंध पथिक बच गया, स्वयं ही दूर हुआ दुर्वार कुआँ,
राम-नाम के परम सहारे अजामील उद्धार हुआ।

× × × ×

इसी भाँति दुर्मित्र-सङ्ग से पुनरपि उसका हुआ पतन,
बहते-बहते ठोकर खाकर रुक-रुक जाता था जीवन।
धूम्रपान-दुर्व्यसनाकर्षित हृदय संतुलन खो बैठा,
चौर्य-कर्मरत हुआ, सत्य-व्रतधारी निज धन खो बैठा।

पर अंतर्प्रज्वलित दीपिका सह न सकी इस तमको भी,
क्योंकि भ्रांतिमय इस पंथी का बहुत दूर था लक्ष्य अभी।
त्रुटि से कृत निज दुष्कृत से था उसका उर अत्यन्त दुखित,
लगा सोचने—कैसे हो इस महा पाप का प्रायश्चित?

इच्छा हुई पिता के सम्मुख प्रकट करूँ निज पाप अभी,
दण्ड-दान पाकर अन्तर के शांत करूँ परिताप सभी।
चरण न बढ़ते थे पर आगे, साथ न देता था साहस,
धो डाला था मानो उसने पूज्य पिता का शुभ्र सुयश।

....और अंततः शुभ्र पत्र पर लिखकर अपनी कलुष कथा,—
खड़ा हुआ जा पितृ--चरण में नत मस्तक, हो चोर यथा।
पढ़कर पत्र पिता के अंतर की वत्सलता द्रवित हुई,
ढुलक पड़ी गालों पर दो प्रेमाश्रु—बिन्दुएँ क्षमामयी।

विमल हुआ शुचि स्नेह नीर से धुलकर ममता का अञ्चल,
एक पिता का आज हुआ था जीवन में पितृत्व सफल।

पितृ-वियोग और मनस्ताप

बिन्दु ७
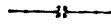
अनुपम पितृ—भक्ति मोहन की देख, नियति को हुई जलन,
सेवा का सौभाग्य छीनने घिर आये अम्बर में घन।
दुसह भगन्दर की पीड़ा थी प्रति पल ही बढ़ती जाती,
क्रूर काल को सुखकी घड़ियाँ नहीं किसी की हैं भातीं।

हुईं सभी औषधियाँ निष्फल, हुए सभी उपचार विफल,
निशि के प्रथम प्रहर--सा बढ़ता जाता था तमका अञ्चल।
परिचर्या में परिजन के सह मोहन भी संलग्न रहा,
तनके साथ सुश्रुषा से था मन भी नहीं विलग्न रहा।

पर मन पर थी पड़ी हुई दुर्दम्य वासना की छाया,
मोहन पर सम्मोहन डाले थी कोई मादक माया।
मन न चाहता था कि पिता को एक निमिष को भी छोड़ूँ,
प्रणय चाहता था कि नदी की गति को भी उलटी मोड़ूँ।

था कर्तव्य और वासना में यह दुर्दम द्वंद्व प्रबल;
कभी स्तब्ध बन जाती सरिता और कभी बहती कल-कल।
कभी पिता की पदकी रज में श्रद्धा से रमता था मन,
कभी प्रियाके साथ कक्ष में करता था उन्माद रमण।

पूज्य पिताके प्रयाण की थी दुखकी बेला उधर निकट,
खींच गई सुतको अंतिम क्षण दुर्निवार आसक्ति विकट।
छुआ न होगा प्राण प्रियाके, सोत्सुक अंतर का अञ्चल,
"पिता गये सुरलोक" सूचना ने प्राणों को किया विकल।

हा ! वह आज जयद्रथ का-सा था जीवन में गया छला,
अन्तिम सेवा का, सुपिता के भ्राता को सौभाग्य मिला !
पिता गये अथवा कि गिरा था कोमल शतदल पर पर्वत,
पक्षाघात्याघात हुआ था, या कि चेतना-शक्ति-विगत ?

किंवा दैव ने अन्तिम क्षण में सेवासे वञ्चित सुतको,
डाल दिया गहरी खाई में अज्ञ सारथी ने रथ को।
स्तम्भित देह, प्रकम्पित मृदुउर दृग में सावन की झड़ियां,
बिखर पड़ी थीं आज धैर्य की टूक-टूक होकर कड़ियां।

अपने हाथ हुआ हो जिसका स्रोत रुद्ध पावन सुखका,
पश्चात्ताप नहीं कर सकता प्रायश्चित ऐसे दुख का।
अच्युत की त्रुटि को न भूलने पाता था मन का मनका,
सदा कीलता रहा हृदय को अनवधान अन्तिम क्षण का।

जब-जब पिता स्मरण आजाते
जग उठतीं वे भी स्मृतियां;
शूल न इतने खलते, जितनी—
खलती हैं अपनी त्रुटियां।

पुत्रका संयोग और वियोग

बिन्दु ८

किसी मनोहर अन्तरिक्ष में एक कल्पना थी पलती,
अन्तर्दृग में दिव्य ज्योतिमय स्नेह—दीपिका थी जलती।
भव्य भाव को वत्सलता के आठ मास से पाला था,
किशोरता में पितृ भाव का जागा एक उजाला था।

उधर पिता के वियोग का था दुःख नहीं धुलने पाया,
इधर पुत्र भी गया, पिता भी दैव! न वह रहने पाया।
चार दिनों तक प्रमुद उमङ्गें बढ़ीं गगन का छूने उर,
चार दिनों में गये गरल बन सब सोने के स्वप्न मधुर।

धर्माङ्कुर

बिन्दु ६

अल्प आयु में ही शिशु में वे आतीं सदसद् संस्कृतियां,
भाग्य या कि दुर्भाग्यपूर्ण हों जैसी निकट परिस्थितियां।
षटाब्द वय से षोडषाब्द तक पढ़ा विविध शालाओं में,
ग्रथित हुए संस्कार अनेकों साँसों की मालाओं में।

वहां गणित, साहित्य, क्षेत्रमिति, मिली खगोलों की शिक्षा;
था विज्ञान, न किन्तु ज्ञानमय मिली वहां धार्मिक दीक्षा।
प्राच्य सुसंस्कृति की छाती पर नव पाश्चात्य प्रणाली थी,
उगते रविको अन्धकार में जो ढकेलने वाली थी।

पर मोहन का घर ही श्रद्धा का शुचि शुभ्र सुआलय था,
वैष्णव, जैन, बौद्ध आदि सब धर्मों की नित चारु कथा।
रामायण के पारायण से हृदय राम अधिवास हुआ;
भय रुज-शमक महोषधि केवल 'रामनाम' विश्वास हुआ।

दूर हुई सब प्रेतादिक की दुर्विभीषिका की छाया;
सफल हुआ उपचार जिसे था रम्भा मां[1] ने बतलाया।
कर्मचन्द के घर आते थे विविध धर्म के वेत्तागण,
साधु, भिक्षु, सन्यासी, योगी, वेद-विज्ञ विद्वद् ब्राह्मण।

आध्यात्मिक विषयों की चर्चा वहां नित्य होती रहती,
आत्म-ज्ञान गङ्गा की शाश्वत धाराएं बहती रहतीं।
हृदय पटल पर मोहन के सब होता जाता था अङ्कित,
उर्वी-उर पर पड़े हुए ज्यों बीज हुआ करते सफलित।

१-गांधी परिवार की दायी

श्वेत पत्र पर प्रथम बार ही जो कुछ लिखदो, मँड जाता,
लिखे हुए पर अन्य शब्द फिर भाव न निज कहने पाता।
इसी भांति शिशुओं के ऊपर जमती वे ही संस्कृतियां,
प्रथम बार ही पड़ जाती है जैसी छाया या द्युतियां।

जीवन भर शुभ संस्कारों को जग ने मोहन में देखा,
कभी न मिटती खिंच जाती जो प्रस्तरपर कोई रेखा।
शैशव में ही जिधर झुकाओ झुकती अङ्कुर की डाली,
समुचित विकसित होता है वह पाकर विज्ञ, निपुण माली।

कर्मचन्द का घर मन्दिर था,
वहां अशुभ संस्कार कहां!
क्यों न फले—फूले वह उपवन,
रमें राम अविराम जहां!

× × × ×

देश की दयनीयता पर थी दया को भी दया,
राम को करना स्वयं था संस्करण अपना नया।
पुण्य उपसंहार के अनुरूप ही अथ चाहिए,
निशि-अन्त, प्रातः-उदय के अनुरूप ही पथ चाहिए।

हो समुन्नति को विनिर्मित नव्य क्या वातावरण—
धर्म चर्चा में जहां हो बीतता प्रत्येक क्षण।
परिजनों की पुण्यतम प्रत्येक गति उन्नति-प्रदा,
सदन ही संस्कार की, होता प्रथम शाला सदा।

द्वितीयोर्मि

विदा वेला

बिन्दु १

जीवन की मृदु शाखाओं पर यौवन के सपने उठे झूल,
पा स्नेह-नीर, उर्वरा धरा अस्फुट अङ्कुर बन गया फूल।
निर्मल मानस पर मचल उठीं आशाओं की अगणित तरङ्ग,
निस्सीम गगन पर थिरक उठी स्वर्णिम धागे वाली पतङ्ग।

था अङ्ग-अङ्ग उत्साह अतुल मारुत की गति-सा वेगवान,
जिसमें कि शरद की सरिता का था प्रवहमान कल-कलित गान।
था पश्चिम दिशि की ओर मुड़ा प्राची का सुरभित नभस्वान,
था प्रातरंशुमाली का अब नभ के उन्नत पथपर प्रयाण।

थीं पूज्य पिता की इच्छाएं इच्छुक, पाने को मूर्त रूप,
मां उत्सुक थी कि बने मोहन सद्गुण-शीतल जल-अमल कूप।
"प्रभु चरण, निरामिष अशन और पय-पूत चरित का रहे ध्यान,"
"आज्ञा न टलेगी माता की, टल जाय भले विधि का विधान।"

गुरजन की ले आशिर्वाणी, माता की ममता का प्रसाद,
वह नीलकण्ठ-सा निकल पड़ा पीकर विविधा बाधा-विषाद।
अग्रज के पावन चरणों पर उसकी श्रद्धाएँ दीं उंडेल,
"जाओ प्रिय बंधु! बने तुमको शतदल पथके शत-अवधि शैल।"

"प्रियतमे! विदा दो प्रमुदित हो पावन अन्तर से, सहित स्नेह;"
छा गये प्रिया की आंखों में सहसा सावन के सजल मेह।
था शब्द विदा का श्रुतियों में, उसमें निदाघ का दुसह दाह,
था रोम-रोम में शिशिर-कम्प, दृग में गंगा-यमुना-प्रवाह।

जिह्वा न सकी थी वाणी से आकुल उर का सम्बन्ध जोड़,
भीगीं पलकें ही बोल उठीं "मत जाओ प्रियतम ! नेह तोड़।"
"यह मोह–शृङ्खला प्राण–प्रिये ! करती उन्नति का पंथ रुद्ध,
बहते जल की गति गीतमयी, अवरुद्ध नीर रहता न शुद्ध।"

"मैं राहुल जननी यशोधरा हूँ नहीं भले तुम बनो बुद्ध;"
"यह स्वल्प काल का है वियोग, वैराग्य समझ मत बनो क्रुद्ध।"
"जो इच्छा, पूज्य ! पुजारिन का आग्रह ही है अधिकार एक,
सेवक को स्वामी के सम्मुख समुचित न विवादों का विवेक।"

"प्रियतमे ! विदा दो स्मित मुखसे कर शमन हृदय का मोह-रोग;
वह ही संयोग मधुरतर है क्रीड़ा करता जिसमें वियोग।
पुलकित पलकों में काजल-सा यह लघु वियोग भी रहे बसा,
स्वाती के प्रेम–पयोधर में चपला की आंख मिचौनी–सा।"

"नत–शिर हूँ आज्ञा के सम्मुख दुर्बला ऊर्मिला के समान;
कर सकती पर उरके दुख का क्या मीठी वाणी समाधान ?"
प्रिय के दृग से मिल गोदी के शिशु[1] पर अटकीं दो नयन-सीप;
प्रिय-अधर-मधुप भी अनायास शिशु-मुख-सरसीरुह के समीप।

"नन्दन-वन-क्रीड़ित मन-मृगपर फैलाओ मत री मोह जाल,
इन छलछलती मुक्ताओं को सीपी में ही रक्खो संभाल।"
मुक्ताएं यदि बन रहें हार प्रिय के वक्षस्थल के समीप,
तब कहीं सफल मानेंगी ये अपने जीवन को क्षुद्र सीप।

"आराध्य देव के चरणों पर यदि सुमन चढ़ें, है वेलि धन्य,
इन मुक्ताओं का मोल करे, हे नाथ ! जोहरी कौन अन्य ?"
"ज्यों-ज्यों तन होगा दूर–दूर; मन होगा उतना ही समीप;
पाकर वियोग की तपन सदा अधिकाधिक जलता स्नेह दीप।"

१–पुत्र हीरालाल

कर वाम प्रिया के कन्धोंपर, दक्षिण अङ्गुलि शिशुचिबुक स्पर्श,
प्रिय प्रिया-पुत्र, वात्सल्य-प्रणय, नलिनी-निशीथ-नीरज प्रहर्ष।
पर था इस हर्ष-प्रहर्षण में खलता वियोग का सूक्ष्म अंश,
जैसे कि सुकोमल सुमनों की शैया में कोई बिच्छू दंश।

ना, बिच्छू दंश तो होता है विषपूर्ण क्रूरता का प्रहार;
यह मृदुल दंश, पलता जिसमें दो हृदयों का मधुपूर्ण प्यार।
"मैं जहाँ रहूँगा, प्राणों के, तुम सदा रहोगी प्रिये! साथ;"
प्रिय के चरणों पर श्रद्धा से हो गया प्रिया का नमित माथ।

इस पार से उस पार

बिन्दु १

छूटा लङ्गर, जलयान चला, टूटे प्रिय परिजन, भूमि, तीर;
बह चला सिन्धु की लहरों से आविल शीतल-शीतल समीर।
धीरे धीरे धूमिल होकर लय हुई तीर की हरियाली,
तरु छिपे, छिपे सब दृश्य रम्य, विहगावलियाँ कलरववाली।

छूटी सङ्गीतमयी ध्वनियाँ ऊँचे महलों की मतवाली,
रह गयी क्षितिज के पार कहीं बम्बई विपुल वैभववाली।
मोहन के सम्मुख थी केवल लहराती अब जलमयी सृष्टि;
आगे जल था, पीछे जल था, जल जिधर-जिधर भी जाय दृष्टि।

पार्थिव तत्त्व से रिक्त-रिक्त होती प्रतीत थी सकल सृष्टि;
बस, एक यान को छोड़ आज थी पिघल गई मानों समष्टि।
फैला-फैलाकर बाहु-पाश क्रीड़ाएँ करती-सी हिलोर;
था नहीं सिंधु-सीमा-सा ही उनके विमोद का ओर-छोर।

निश्छल ममता की-सी कोमल, स्वच्छन्द क्रीड़िता सुख-विभोर;
खलता था जिनकी मृदुता को यह यान कि जो था अति कठोर।
उषा ने आकर लहरों के यौवनपर बिखरा दी गुलाल;
हर्षातिरेक से फूल उठा वारिधि का वक्षस्थल विशाल।

(इस सौख्य-प्रदा वेला में कुछ सूनेपन का भी था प्रभाव;
था वहाँ विहग बालाओं के कल-कूजित गीतों का अभाव।)
मोहन के दृग थे देख रहे यह नव्य सृष्टि आल्हादमग्न;
चञ्चल मन भी था एक नयी जगती की निर्मिति में निमग्न।

जल की लहरें तो उठ-उठ कर तत्क्षण होतीं थीं पुनः लीन;
पर मनकी चपल तरङ्गों की गतियाँ निरवधि, विश्राम हीन।
तन के अञ्चल में लिये हुए था वारियान का एक कक्ष;
पर देख रहे थे लन्दन को साश्चर्य विमोदित अंतरक्ष।

बढ़ता जाता था यान अरुक, चढ़ता जाता था व्योम सूर्य;
मोहन के दृग में झाँक-झाँक जाता था भावी प्रभापूर्य।
बोले सहयात्री "एकाकी रहते हो क्यों सङ्कोचशील ?
वाणी के ताले खुले न तो बन पाओगे कैसे वकील !"

भोजन-प्रसङ्ग में साथी ने साग्रह आमिष का कहा तत्व।
"दुर्लङ्घ्य न होगा मुझसे प्रिय ! जीवन में शुचिता का महत्त्व।"
"जीवन की सार्थकता जिसमें, यह खाद्य अतुल बल-वीर्य युक्त।"
"घृत-दुग्ध-दधी-पोषित मनको लगता न रुचिर यह चतुर सूक्त।"

"उपयोगी वस्तु ग्रहण में है आती तुमको आपाति कौन ?"
"माता से हूँ मैं वचनबद्ध" यह कह मोहन होगये मौन।
"वह वचनबद्धता क्या जिसमें रुकता हो जीवन का विकास ?"
"इन तर्क-वितर्कों में साथी ! पाता न कहीं भी मैं प्रकाश।"

"है शक्ति न कोई वसुधा पर निश्छल श्रद्धा-विश्वास तुल्य;
रखती न प्रतिज्ञा के सम्मुख कोई भी समुचित यूक्ति मूल्य"
इस भाँति विचारों का विनिमय चल रहा मधुर आल्हाद युक्त;
था यान उधर अपने पथ पर, संसृति अपने पथ पर प्रयुक्त।

संध्याने कुंकुम-तिलक लगा रवि नागलोक को दिया भेज;
रजनी ने शशि के स्वागत को दी बिछा मुक्त-मण्डिता सेज।
नीचे जलकी नीली चादर, ऊपर नभ का नीला वितान;
नक्षत्र दीप्त थे महलों के विद्युन्मय दीपों के समान।

गा उठीं दिशाएँ मृदु स्वर में निशि-इन्दु-मिलन के मधुर गीत-
सुत के स्वागत में सुख-विभोर होता था रत्नाकर प्रतीत।
पितु की ममता के अञ्चल पर क्रीड़ा-निमग्न शिशु तुल्य इन्दु;
उत्सुक थी जिसके चुम्बन को प्रत्येक लहर, प्रत्येक बिन्दु।

जल निधि की पुलकित गोदी में पुलकित था शशि का स्नायु-स्नायु;
पितु-सम्मुख सुत शिशु ही है, हो शैशव, यौवन या वृद्ध आयु।
नलिनीश-निशा का नेह देख मोहन-मन मधु-निशि गयी जाग;
वह प्रकृति प्रणय था जगा रहा विरही-उर ईर्ष्या और राग।

हो गया उपस्थित दृग-सम्मुख दूरस्थ प्रिया का शीत कक्ष;
गुदगुदा दिया अंगुलियों ने उर, जो कि स्पर्श में थीं सुदक्ष।
ज्यों ही कि यान पर पड़ी दृष्टि, हो गया स्वर्ग वह चूर्ण-चूर्ण;
प्रियतमा दूर थी शत योजन, था निकट सिंधु परिहास पूर्ण।

वह प्रेमीजन का मुक्त मिलन था देख प्रथम मोहन उदास,
परिहास न करते थकता था शशिका रहस्यमय मंद हास।
बोला—"क्षण-स्थिर मादकता पर इठलाते क्यों हो यों मयङ्क!
धो देगी रवि की प्रथम किरण इस अतुल सौख्य के भाग्य अङ्क।"

पर मन ही मन कहता—"होते मेरे तन में यदि कहीं पङ्ख—
होती न प्रमुग्धा नलिनी वह, होता न आज मैं भी मयङ्क!
विधि की है भूल कि मानव को मन दिया विहग से वेगवान;
इस उड़नेवाले देही को क्यों देह नहीं दी पङ्खवान!

"दीं रम्य कल्पनाएँ तब क्यों कर गया न कल्पलतिका प्रदान?
विधि! आज चाहता परिवर्तन यह वृहद पुरातन संविधान।"
जागृति में यों कुछ स्वप्न चले, सपनों में कुछ जागृति-विनोद;
आ गयी उषा पथ—भूली-सी प्रियतम की करते हुए शोध।

कर दिया तीर के जनरव ने
उस समाधिस्थ का भङ्ग ध्यान;
लग गया साउदेम्पटन[1] पर
विजयी यात्री—सा वारियान।

१—लन्दन का एक बन्दरगाह

लन्दन में

बिन्दु ३

नन्दन-सी लन्दन नगरी में विक्टोरिया-होटल रम्य स्थान;
निज अतुल भव्यता पर गर्वित सुरपति के मन्दिर के समान।
इस नव्यलोक में सर्व प्रथम मोहन का जो आश्रयस्थान;
फिर मिले प्राणजीवन[1] जिनसे पाया उसने नव स्नेह-दान।

नवलोक अलौकिकता विलोक उसके मन यद्यपि था विमोद;
पर रह-रह स्मृति में आती थी माता की ममतामयी गोद।
दिन तो थे विविध सुदृश्यों के दर्शन में हो जाते व्यतीत,
पर रात्रि, सद्म एकाकी में होता था सूनापन प्रतीत।

"मैं कहाँ? कहाँ प्यारी जननी? दे कौन यहाँ वात्सल्य-दान?"
उर-घन जल-प्लावन कर देते, कर जाते यदि दो दृग न पान।
इस भाँति हृदय की पीड़ा का सह लेते लोचन दुसह भार,
बाहर न प्रकट होने पाता अन्तर का आन्दोलन अपार।

औ' प्राण-प्रिया का चुपके से उरके सूनेपन में प्रवेश,
शिशु का न जहाँ निज कलित हास, खलता न कहो किसको विदेश!
धीरे-धीरे थे परिचित से हो चले नगर के सभी कक्ष;
न्यूनातिन्यून व्यय करने का था एक लक्ष्य मोहन समक्ष।

अतएव मितव्यय था जिसमें उसही अञ्चल में किया वास,
थे जाल न उसपर डाल सके जगमगते वैभव के विलास।
निर्-आमिष-अशन-व्यवस्था की थी कठिन समस्या किन्तु एक,
उस मांसाहारी जगती पर कुण्ठित था मोहन का विवेक।

१- डॉ॰ प्राणजीवन मेहता

जो कुछ मिलता, होती न तृप्ति, कुछ खाता, सहता कभी भूख,
मित्रों को चिन्ता हुई कि यह मृदु मुकुलित मुकुल न जाय सूख।
सुख-दुख सब सहकर होते थे निर्मांस-अशन के शत प्रयोग,
थे किन्तु मनस्वी मोहन के भगवान न करते अशुचि भोग।

इत्यादिक विविध प्रयोगों में था मुख्य अशन भी एक अङ्ग;
"हो जाय न माता के सम्मुख की हुई प्रतिज्ञा कहीं भङ्ग।"
पर इस स्वभाव से पाता था निज को वह कुछ एकाकी-सा;
उस नूतन संस्कृति में, मन में घुलमिल जाने का मोह बसा।

था नव्य वेश-भूषा भूषित मिस्टर मोहन का कृश शरीर;
हो उठा सभ्य कहलाने की धुन में चञ्चल मन अति अधीर।
क्रय किया एक वायोलिन[1] झट, बस गये हृदय सङ्गीत-नृत्य;
मोहाभिभूत मन पर था अब इस नये भूत का आधिपत्य।

ये विविध वृत्तियाँ देती थीं मनकी चञ्चलता का प्रमाण,
स्वर से सहयोग न करती थीं पदकी गतियाँ कम्पायमान।
वह भी छोड़ा, अब अन्तर में थी नई भावना हुई व्याप्त,
"सम्मोहक सम्भाषण में ही मैं क्यों न करूँ नैपुण्य प्राप्त?"

सङ्कोचशील मोहनजी को थी किन्तु कला यह भी असाध्य,
सङ्गीत-नृत्यवत् इसको भी वे नमस्कार को हुए बाध्य।
इस 'सभ्य-साधना' की, मन था होगया अगमता से विरक्त,
दुष्प्राप्य द्राक्षफल सरस मधुर होगये स्वाद से रहित, तिक्त।

1—एक वाद्य

राम रखे तो कौन चखे

कर रहा सुहृद-सह एक बार गौराङ्गी रमणी-सह विमोद,
हो उठा वासना से विषाक्त यौवना कामिनी का विनोद।
होगया ताश का खेल बन्द, मृदु मन पर आरोहित पिशाच,
तिलमिला उठा सद्ब्रह्मचर्य पाकर अनङ्ग की दुसह आँच।

मोहन को उसके साथी ने यदि किया न होता सावधान,
हाँ, बदल गया होता विष में पीयूषपूर्ण सुख का विधान।
मनमथ-मारुत ने बुझा दिया होता मानवता का प्रदीप,
होता यह मानस का मराल उस काग-तीर्थ-तट के समीप।

× × × ×

था फेंक चुका रौरवतल में
यद्यपि कि काम का उच्च शैल;
था लिया पुनः निज हाथों पर
परमेश्वर ने प्रल्हाद झेल।

× × × ×

जिस लिए गया था लन्दन को, निज अभिलाषित सीखा विधान,
व्युत्पन्न बुद्धि ने फ्रेंच और लेटिन भाषा का लिया ज्ञान।
अगणित धर्माचार्यों से भी था धार्मिक परिचय किया प्राप्त,
शुचि सत्य-अहिंसादिक सद्गुण रग-रग में थे हो चुके व्याप्त।

हो विपुल ज्ञान सम्पन्न, तीन-
वर्षों तक वह रहकर विदेश;
दस जून, अठारह—इक्कानवे,
बेरिस्टर हो लौटा स्वदेश।

× × × ×

धन्य दृग, मां-भूमि का पा दर्श;
हर्ष का उत्कर्ष अन्तस्स्पर्श।
पुण्य पद-रज भाल ज्यों कि गुलाल;
पुत्र-धन पा कौन मां न निहाल?

तृतीयोर्मि

बेरिस्टर

बिन्दु १

घर पर आने पर ज्ञात हुआ प्रिय जननी का सुरपुर प्रयाण,
वात्सल्य-शून्य पा वारिद थे प्यासे चातक के विकल प्राण।
पर नियति-निरङ्कुश के सम्मुख दुर्बल जन की चलती न एक,
सामर्थ्यहीन का एक मात्र बस, धैर्य-करण ही है विवेक।

पा प्यार प्रिया के मृदु उर का, शिशु का उत्फुल्लित पद्म-हास,
मधुमास लगा गुञ्जन करने मधुकर-सा मन के आस-पास।
विस्मृति ने माता का वियोग धीरे-धीरे कर दिया अस्त,
थे कर्म-क्षेत्र में उतर पड़े करने को जीवन-पथ प्रशस्त।

श्री मोहन अब बेरिस्टर थे, सङ्कोचशील था पर स्वभाव,
अधरों के पट पर ताला बन था पड़ा हुआ मन का प्रभाव।
न्यायालय में जब प्रथम बार प्रतिपादन करने उठे पक्ष,
था कम्पित तन, प्रति पद्म श्वेद, था अन्धकार दृग के समक्ष।

यह लगा कि चक्कित न्यायालय हो कुम्भकार का ज्योंकि चक्र,
बेरिस्ट्री की आशाओं पर निष्ठुर विधना होगयी वक्र।
कुटिला वाणी ने कुचल दिये उन्नति के अगणित मधुर चाव,
अधरों के छूने के पहिले हो गये हृदय के लीन भाव।

लज्जा के अञ्चल में रवि के हो गये उदय के स्वप्न अस्त,
रेतीली भू पर बने हुए हो गये सभी प्रासाद ध्वस्त।
यह प्रथम पास मक्षिका-पतन कर गया हृदय पर दुसह चोट,
तज सभी बम्बई का वैभव मोहनजी पहुँचे राजकोट।

पर मृग-मरीचिका-सी-जय-श्री,
होती जाती थी दूर—दूर,
पद्—पद की विपुल विफलताएँ
करतीं थीं उर को चूर-चूर ।

प्रथम आघात

बिन्दु १
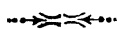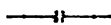
थी इसी अवधि में एक बार अग्रज ने साग्रह कही बात—
"है चाह रहा करना मुझ से पोलीटीकल एजंट, घात ।
वह मित्र तुम्हारा लन्दन का, कर दो प्रशस्त मम मार्ग रुद्ध;
दो शब्द समर्थन के कह कर करदो मेरे प्रति भाव शुद्ध ।"

थी रुचि न किंतु अग्रज-आज्ञा सकते थे मोहन नहीं टाल;
पहुँचे 'साहब' के बँगले पर साहस को मन की बना ढाल ।
बोले 'साहब'—"कैसे आए ?" दृग में शासन—उन्माद दीप्त;
काले पर गोरी चमड़ी की थी तिरस्कार-ज्वाला प्रदीप्त ।

लन्दन का परिचय देकर श्री मोहन बोले दो—एक शब्द;
पर घृणामयी आकृति विलोक आश्चर्यान्वित हो गये स्तब्ध ।
"हैं बंधु तुम्हारे षड्यन्त्री ।" निकले मुख से दो शब्द—सर्प;
भ्रू—भङ्गी में था नाच रहा सत्ता के मद का महद्दर्प ।

'पर सुनिए मेरी बात पूर्ण, साहब को अवगत एक पक्ष;
दोनों पक्षों की सुने बिना निर्णय कर लेते हैं न दक्ष ।"
"मुझको अवकाश न सुनने का, करिए बस अब सत्वर प्रयाण ।"
"क्या रोग—परीक्षण के पहिले समुचित होगा कोई निदान ?"

मोहन निज पक्ष-समर्थन को थे अड़े हुए दृढ़ स्तम्भ तुल्य;
प्रतिहारी से धक्के दिलवा पशु ने दृढ़ता का किया मूल्य ।
ये शासित थे, वह था शासक, शासक शासित पर कब उदार ?
लन्दन की मैत्री शत योजन आ सकती कैसे सिन्धु-पार ?

शुक की-सी आँख बदलदी झट साधारण-सी शिष्टता छोड़;
शुचिता का पथ शासन-मद के चौराहे पर से दिया मोड़ ।
यह श्वेत चर्म का अतुल गर्व कालेपन पथ था दुर्वह भार;
प्रतिकार न, पर था स्वाभिमान तिलमिला उठा ज्यों सिन्धु ज्वार ।

उद्दाम निरङ्कुश सत्ता का मानवता पर निर्लज्ज वार;
अथवा पश्चिम का प्राची की छाती पर भाले का प्रहार ।
अस्ताचल का, ठोकर द्वारा उदयाचल का यह तिरस्कार;
भारत माँ बोली-"भारतीय ! निज संस्कृति का गौरव सँवार ।"

पड़गया बीज, उर्वर भूपर,
उग, अङ्कुर होगा वृहद् वृक्ष;
शत योजन तक फैलेगा जो
दो योजन सुरसा-मुख-सदृश ।

बम्बई से नेटाल

बिन्दु ३

बेरिस्ट्री में थे कर न सके मिस्टर मोहन साफल्य प्राप्त,
आशाएँ और उमङ्गें सब होने ही वाली थीं समाप्त।
आफ्रीका से दैवात् तभी इप्सित आमन्त्रण हुआ प्राप्त,
बुझते बुझते-से दीपक में फिर नई चेतना हुई व्याप्त।

था एक बार फिर होने को प्रिय प्राणवल्लभा से विछोह,
उत्साहित उरसे, शिशुओं का कर उठा मोह भी तनिक द्रोह।
थे किन्तु विदेश भ्रमण के भी, मन में अतुलित उत्साह-हर्ष,
कितने ही स्वप्निल स्वर्गों को आशाएँ थीं कर रहीं स्पर्श।

अतएव मोह की चादर दी हर्षोल्लास ने रख समेट,
सागर की उर्मिल लहरों से दैदीप्य दृगों की हुई भेट।
अप्रेल, अठारह-तिरानवे, द्युतिमयी बम्बई से प्रयाण,
तेरह दिन चल 'लाम्बू' बंदर पहुँचा इठलाता वारियान।

सञ्चालक सह आमोद-पूर्ण करते विनोद मोहन सुधीर,
'लाम्बू' से 'मुम्बासा' होकर पहुँचे फिर 'जञ्जीबार' तीर।
तट से उतरे फिर सुहृद-सङ्ग, सोचा-नव नगरी आयँ देख,
पर शरद-इन्दु को खींच गयी दुर्राहु-निकट दुर्भाग्य रेख।

दी बिछा नवोढ़ा रमणी के नव-यौवन ने मनुहार-सेज,
मद से छलछलते दृग में पर था पाप-ग्रस्त निर्-ओज तेज।
रह गये स्तब्ध-से श्री मोहन यह दृश्य वासनामय विलोक,
"ठहरो! यह कुम्भीपाक नरक!" अन्तर्वाणी ने दिया रोक।

तिर गई सुमन-सी पुण्य शिला, बच गयी सिन्धु होते विलीन,
'थी सेतु-बंध की नवावृत्ति' यह साम्य सर्वथा समीचीन।
जलकी शीतलता से आविल सेवन करते मादक समीर,
'मोंजाम्बिक' बन्दर से पहुँचा वह रम्य यान नेटाल तीर।

थे जहाँ उपस्थित अब्दुल्ला,
स्वागत करने के लिए पूर्व;
थी यह ही आफ्रीका, जिसकी—
मन में थी उत्सुकता अपूर्व।
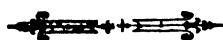
कालेपन का पाप

बिन्दु ४
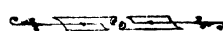
निज वादी-गृह दो-एक दिवस लेकर विराम, हो श्रान्ति-हीन,
हो भारतीय-भूषा-भूषित पहुँचे न्यायालय में प्रवीण।
डरबन के उस न्यायालय का अन्याय पूर्ण पहला मिलाप,
दे उठी महोदय मोहन को वह मदोन्मत्तता महत्ताप।

यह वेश देख, न्यायधिप के, हो उठा हृदय जागृत विकार,
जम गयी दृष्टि शिर-पगड़ी पर, दृग-घृणा, दहकता तिरस्कार।
"पगड़ी उतार लो सिर पर से!" था यह सदर्प आदेश एक,
पर दर्प सहन कैसे करता उन्नत मानवता का विवेक?

उठ चले भवन से श्री मोहन उन्नत मस्तक, सह स्वाभिमान,
"उन्मूलन का अधिकारी है दानवता का यह दुर्विधान।
दो मानव के शुभ संगम पर है जहाँ अपेक्षित स्नेह पर्व,
तन की श्यामलता पर कैसा गोरेपन का उद्दाम गर्व!

"काले के उज्ज्वल आत्मा से उसका विभिन्न क्या आत्म तत्व ?
मानव-विधान में मान्य कहाँ गोरों का रक्षित अधिक स्वत्व ?
क्यों त्वचा समुज्ज्वल होने से है एक श्रेष्ठ, सम्मान्य, पूत
क्यों एक कृष्णतन होने से हो गया कुली, सामी[१], अछूत ?"

पगड़ी उतार लेने से थी चल सकती गति-विधि बिना विघ्न;
यह कृत्य सिद्ध कर देता पर आत्माभिमान के प्रति कृतघ्न।
...फिर, मात्र जानता पगड़ी का है भारतीय ही महत् मूल्य;
अतएव अवज्ञा वह उसकी चुभ गयी हृदय, बन तीक्ष्ण शूल्य।

पागया न्याय का आन्दोलन पत्रों के पृष्ठों पर प्रचार;
थे विज्ञ विरोध-प्रदर्शन में कर रहे प्रकट अपने विचार।
शत प्रति-विरोध के ज्वार उठे, दृढ़ रहा किंतु निर्भीक शूर;
उत्ताल तरङ्गें पर्वत से टकरा-टकरा हो गयीं चूर।

नेटाल से प्रिटोरिया

बिन्दु ५

श्री अब्दुल्ला के आग्रह से चल दिये प्रिटोर्या को मोहन;
था जहाँ कि उनको करने का निज वाद-पक्ष का प्रतिपादन।
गाड़ी में पहिली श्रेणी के ले टिकिट, किया सत्वर प्रयाण;
था किन्तु भाग्य में लिखा हुआ संघर्षपूर्ण विधि का विधान।

'मोरित्सवर्ग' में किया एक गौराङ्ग प्रवासी ने प्रवेश,
इस रङ्ग भेद के दानव में था नहीं धैर्य का समावेश।
थी तीव्र भ्रकुटि, आरक्त नयन, निस्सीम क्रोध के अनल--बाण;
था दहक रहा ज्वालाओं से जिसके मस्तक का तापमान।

१-कालेपन का द्योतक अपमानजनक शब्द

"यह 'काला' बैठा हुआ यहाँ, यह देश नहीं जिसका कि वास;
इस ऊँची श्रेणी में न कभी हो सकता कुलियों का प्रवास।"
बोला झट आकर अधिकारी "तू यहाँ न सकता अधिक बैठ;
जा चला दूसरे डिब्बे में अपनी पेटी, बिस्तर समेट।"

"मैंने न प्रथम श्रेणी का क्या क्रय किया टिकिट, दे अधिक मूल्य;
अधिकार मुझे भी चलने का है इसी कक्ष में अन्य तुल्य।"
"अधिकार? और आफ्रीका में? इस अधम कुली का यह घमण्ड?"
थी अधिकारी की आँखों में प्रतिहिंसा की ज्वाला प्रचण्ड।

दे धक्का, दिया उतार तभी, पाथेय दिया सब भूमि फेंक,
सत्ता के मद में मानव का खोगया धैर्य; सदसद विवेक।
यह धक्का मोहन को न लगा, भारत के उपर था प्रहार,
मानवता के वक्षस्थल पर थी यह कृपाण की तीक्ष्ण धार।

पोलीटीकल एजन्ट प्रथम, थी भुली न, जो दे चुका पीर,
छोड़ा मदान्धता ने फिर यह दूसरा दुसह विष-बुझा तीर।
द्वेशाग्नि-दग्ध मन काला-सा, ऊपर दानव का धवल गात्र,
हो भरा हुआ मानो विष से कोई सुन्दरतम स्वर्ण पात्र।

चल दी गाड़ी, थे एकाकी, थर्-थर् कम्पित शीतार्त देह,
सह गये किन्तु सब बाधाएँ कोमल तन पर बन कर विदेह।
था दुःख महोदय मोहन को दैहिक पीड़ाओं का न रञ्च,
काले के निर्मल मन में पर चुभ गया गोर का पद-प्रपञ्च।

फिर बढ़े प्रिटोर्या के पथ पर पद-पद सहते-सहते प्रहार;
बाधाओं से रुकती न कभी जैसे सरिता की क्षिप्र धार।
थे किन्तु वहाँ भी मिले उन्हें इस रंग-भेद के दुसह दृश्य,
अपमान, तिरस्कृति, घृणा, द्वेष आदिक विकार हृत्पद्म स्पर्श्य।

विक्षुब्ध सिन्धु-सा आन्दोलित
पीड़ित अन्तर में स्वाभिमान,
था चतुर चिकित्सक खोज रहा
इस संक्रामक रुज का निदान।

प्रिटोरिया में

बिन्दु ६

थे दादा अब्दुल्लाजी के श्री बेकर अभिभाषक प्रधान,
गौराङ्गदेव होकर भी जो मोहन को थे बांधव समान।
थे प्रभु मसीह के अनुयायी, मानवता से था कुछ ममत्व,
धार्मिक अनुशीलन रत रह कर खोजा करते थे आत्म-तत्व।

थी सतत् सत्य-अन्वेषण में संलग्न ज्ञान की ज्योति दिव्य;
समदर्शन-दर्पण प्रतिबिम्बित निर्मल अंतर स्वर्णाभ भव्य।
जैसे प्रभात-वाटिका-अटन, मिलते नव-नव सुरभित प्रसून;
मधुकर की, पीकर भी मधु की इच्छाएँ होती हैं न न्यून।

हो गये निरत अन्वेषण में वैसे नूतन मत के, मनोज्ञ;
तज दिये भाव अग्राह्य हुए, कर लिया ग्रहण जो ग्रहण योग्य।
जैसे तज कण्टक, मधुपवृन्द लेता भू-कमलों से पराग;
ज्यों सप्त स्वरों से वीणा के कोकिल-प्रिय पञ्चम सरस राग।

थे नीर-क्षीर-सिद्धान्त विज्ञ वे धर्म तत्व के निपुण छात्र;
था इष्ट मात्र-दधि-दोहन से घृत पूर्ण बने हृत्दीप पात्र।
अतिरिक्त वहाँ 'प्लीमथ ब्रदरन' थे और अन्य भी सम्प्रदाय,
जिनकी आस्थाएँ भिन्न, भिन्न परमात्म-साधना के उपाय।

संयम जिनको जीवन-सीमा, जीवन का जिनके, दया लक्ष्य,
थे किंतु मानवेतर प्राणी उनके अभिमत में अभय भक्ष्य।
था आमिष-भक्षण मान्य उन्हें फल–फूल–वनस्पति के समान,
मानव-तन तक ही सीमित था जिनकी दयालुता का विधान।

पर भारतीय परिभाषा में औदार्य दया का वृहत् क्षेत्र,
मानव क्या, गज–चींटी में भी प्रभु–दर्शन करते दिव्य नेत्र।
अणु- अणु में रहता अनुरञ्जित है एक अहिंसक का दुलार,
शस्त्रों क्या, उसको सह्य नहीं कटु गिरा, तीक्ष्ण लोचन-प्रहार।

ज्यों विविध जलाशय में ऊर्मिल है एक वारिका तरल तत्व,
वैसे ही सब देहान्तर में चिर दीप्त एक ही आत्म तत्व!
सब के उर ममता, राग–द्वेष सुख–दुख–अनुभव होते समान,
लगता है सबको रुदन अशुभ, करता है सबको मुग्ध गान।

वह समदर्शी कैसा जिसके उर में हो नर–पशु का विभेद,
क्या कभी पिता–माँ की ममता पुत्रों में रखती रञ्च भेद?
सन्देहात्मक परिभाषाएँ गांधी को दे पायीं न तुष्टि,
है आर्य धर्म ही श्रेष्ठ, जहाँ बन्धुत्वपूर्ण सम्पूर्ण सृष्टि।

हो गया महोदय मोहन को मन-वाञ्छित धार्मिक स्नेह-संग,
बस, आत्म-तत्व-अनुशीलन की जागी अन्तर में नव उमंग।
धार्मिक प्रवृत्ति से अन्यों से आये परिचय के शुभ प्रसंग,
बन गया 'चर्च' में जाना भी दैनिक चर्या का एक अंग।

'क्लीमथ ब्रदरन' का अभिमत था, ईसा-मत सर्वोत्तम विशाल,
इस रत्नाकर–तट पर वाञ्छित मुक्ताएँ पाते नर–मराल।
तुम भारतीय जो पापों से डर-डर कर रहते हो सयत्न,
हो गया पाप तो प्रायश्चित के करते तपमय विविध यत्न।

"सम्भाव्य न पर-मानव-जीवन रह पाए पापों से विमुक्त,
पद–पद पर पाप बिछे पथ पर तीखे–से शूलों से वियुक्त।
निरवधि पापों के अर्णव के प्रायश्चित का होगा न अन्त,
पावस—पतझड़ न गए तब कब आएगा जीवन में बसन्त ?

"है ईसा ही सर्वेश्वर का बस, एकमात्र निष्पाप पुत्र,
वह ही मानव के, ईश्वर के है मध्य स्नेह का विमल–सूत्र।
मानव यदि अपने कृत्यों का ईसा पर दें कर्तृत्व छोड़,
लेगा, पापों से हो विमुक्त, परमेश्वर से सम्बन्ध जोड़।

"कर चुका सर्वजन–पापों का प्रायश्चित ईसा एक बार,
अतएव न उसके भक्तों पर रहता पापों का शेष भार।"
पर गांधी, जिन्हें अभिष्ट नहीं केवल पापों से ही विमुक्ति;
अभिवाञ्छित थी पर पाप–मूल दुष्पाप--वृत्ति--संशमन–युक्ति–

"पर भारतीय दर्शन में यह अभिमत न कभी स्वीकार योग्य,
सदसद कर्मों का, मानव को ध्रुव निश्चित है परिणाम भोग्य।
शतशत मनुजों के कृत्यों का प्रायश्चित कर सकता न एक,
'है कर्ता ही फल का भोक्ता' है सर्वमान्य यह ही विवेक।

"यदि ईसा के प्रायश्चित से जगकी विमुक्ति को कहें सत्य–
उस पुण्यात्मा के अनुयायी निर्भय न करेंगे पाप कृत्य ?"
इस भांति विभिन्न विचारों के मंथनरत रह गांधी प्रवीण;
लग गये प्राप्ति में तथ्यों के, नव संस्कृति के संशय विहीन।

सम न सब चेतन ? सम न संवेदन ?
किसे इप्सित दुख ? सब न सुख-उन्मुख ?
भ्रांति रहित विवेक-सृष्टिकर्ता एक।
प्रिय पिता दृग-पत्र स्नेहमय सर्वत्र।

चतुर्थोर्मि

चेतना

बिन्दु १
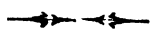
उभय पक्षों के लिए ही मार्ग जो सम्मान्य था,
हो गये गांधी सुसफलित, पञ्च-निर्णय मान्य था।
हो गया मालिन्य निष्प्रभ, विलय थी प्रतिद्वंदिता,
बाँध बैठी दो हृदय को प्रेम की पुष्पित लता।

स्नेह ने समझा दिया—क्या न्याय क्या अन्याय था!
जब कि युग से विज्ञ न्यायालय निपट निरुपाय था।
सेठ तैयब और अब्दुल्ला परस्पर मिल गये,
उमड़ आये रिक्त-उर नभ प्रेम के पयधर नये।

हो गये जब निपुण गांधी मुक्त वाद--विवाद से,
हो गयी जब विमल, निर्विष, बन्धुता अवसाद से।
दृष्टि फिर उनकी पड़ी उस दानवीय प्रमाद पर,
भारतीयों के हृदय के दुसह विषद विषाद पर।

गौर-तन की दृष्टि काली कालिका के दर्प-सी,
कृष्ण तन के शुभ्र उर पर नाचती जो सर्प-सी।
"मनुजता के निष्कलुष दृग द्वेष करते रङ्ग का,
कृष्ण तन यदि, ग्राह्य होता क्या न गुञ्जन भृङ्ग का?

"मानवी तन-कृष्णता पर यह विषैला व्यङ्ग क्यों?
कोकिला का गीत सुनते चाव से गौराङ्ग क्यों?
प्रकृति की शीतोष्णता से गौर-काले रङ्ग हैं,
बाह्य भौतिक रूप से देही सदा निस्सङ्ग हैं।

"क्यों न बहती अरुक बहकर स्नेह सलिला अविरता—
अल्पता विज्ञान की दुर्दर्पमय मद--अंधता।
गौर फिरते राज पथ पर अबाधित, स्वच्छन्द क्यों ?
हिन्द के ही नागरीकों के लिए प्रतिबन्ध क्यों ?

विचर सकते गौर हैं जब मुक्त होकर सब कहीं,
भारतीयों के लिए क्यों उच्चतम श्रेणी नहीं ?"
भावनाएँ थी नहीं ये विषमयी प्रतिशोध की,
अज्ञ के प्रति विज्ञ की गति वैर विगत विरोध की।

स्वत्व रक्षा के लिए तब हुई आयोजित सभा,
हो गई पश्चिम दिशा में उदित प्राची की प्रभा।
विज्ञ गांधी ने बतायी सत्य की अनमोलता,
"सत्य ही परदेश में निज देश की है यश--लता।

"हिन्द की सत्कीर्ति को हम सींचदें सत्कृत्य से,
सिद्ध हों परदेश में हम बालि—सुत सद्भृत्य—से।"
चिर तिरस्कृत मनुजता में प्राण नव सञ्चय हुआ,
सत्व—रक्षा के लिए सोत्साह दृढ़ निश्चय हुआ।

चेतना के, भारतीयों—
के हृदय — दीपक जले,
प्रिटोर्या से हो विदा
गांधी समुद डर्बन चले।

*

भारतीय मताधिकार-प्रस्ताव

बिन्दु १
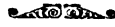
थे समुत्सुक जब कि गांधी हिन्द आने के लिए,
मातृ-भू की पुण्य रज के दर्श पाने के लिए।
मातृ-गौरव के लिए ही किन्तु रुक जाना पड़ा,
फोड़ना था देवता को पाप का पूरित घड़ा।

राज्य आफ्रीकी रहा था सोच नव्य प्रहार का,
कर रहा था अपहरण मतदान के अधिकार का।
कर रही थी वह विदेशी राज्य की धारा सभा—
भारतीया भारती की शक्तियों को निष्प्रभा।

न्याय-रक्षा के लिए ही किन्तु जिनका जन्म था—
सह्य गांधी को कहाँ थी मनुजता की दुर्व्यथा!
सब प्रवासी भारतीयों का बनाया सङ्गठन;
"सह्य होगा अब न माँ के वक्ष का चिर स्रवित व्रण।

"पूर्व की पावन प्रभाएँ अब न कुचली जा सकें।
हों पवन-सुत हम कि नभ-नक्षत्र भू पर ला सकें।"
हो चुका सम्पन्न था द्विवाच दुष्प्रस्ताव का;
जो कि मानव-मानवों में था करण दुर्भाव का।

पवन की गति से प्रचारित हो गयी यह भावना—
"मनुजता को एकतन्त्री भार सहना है मना।"
तार से सूचित किया धारासभा-अध्यक्ष को;
"जानलें प्रस्ताव पर उस, हिंदियों के पक्ष को।"

'स्वत्व अपहृत् हो न' ध्वनियाँ थीं गगन पर छा रहीं,
मारुती को शक्ति विस्मृत की नयी स्मृति आयी ।
किन्तु शकुनी और दुर्योधन जहाँ पर हों जमें—
कौन सुनता सत्यता का आर्त रुदन अरण्य में ?

आगयी सम्मुख कुशासन की निरङ्कुश नग्नता;
दर्प से अभिसिञ्चिता वह पुष्पिता थी यश-लता ।
अरुण के उद्दाम रथ को मेघमाला ढक गयी,
पूर्णिमा की प्रतीक्षा में उदधि की गति रुक गयी ।

यह न समझो—चेतना थी
दर्प-सम्मुख झुक गयी;—
वायु थी विश्राम लेने को—
निमिष को रुक गयी ।

गिरमिटिया 'कर'

बिन्दु ३

हिन्दियों की प्रार्थना पर बस गए गांधी वहाँ,
दानवीय विरोध की थी चल रही आंधी जहाँ ।
न्याय होना चाहिए जिस स्थान[1] पर निर्द्वेष से—
सिद्ध हो जिससे कि शुचि निष्पक्षता निर्देश से—

थे विरोधी वहाँ गांधी के विमल विनिवेश के,
दहकते प्रतिरोध आये रक्त के विद्वेश के ।
लक्ष्य केवल था न गांधी का कि अभिभाषक बनूं,
कीर्ति पाने के लिए या सत्य-संस्थापक बनूं ।

१—न्यायालय

लक्ष था—"सब मानवा पर प्रेम का साम्राज्य हो,
मनुज के निर्विष नयन में मनुजता अविभाज्य हो।
सर्वजन-उत्थान को हो साम्य की संवेदना,
'गोरे' 'कालों' में न कर पाए विधान विवेचना।"

इस अवधि में ही वहाँ पर एक नूतन 'कर' लगा,
दीन गिरमिटियाजनों[1] के हृदय दावानल जगा।
देख गांधी ने कि हैं नित नव्य सङ्कट आ रहे,
दुर्बलों के गेह दो आषाढ़ बनते जा रहे।

विमल शीतल वारि में भी तप्त दावानल जगा,
कमल, बनकर वज्र-सा उन्माद से लड़ने लगा।
सिन्धु की प्रत्येक लहरी के हृदय में रोष था,
पुनः लङ्का की विजय को युद्ध का उद्घोष था।

शत्रुओं पर की चढ़ाई आज मानो मौर्य ने,
अग्नि को निस्तेज करदी हिन्दियों के शौर्य ने।
पी लिया रण का हलाहल शम्भु के औदार्य ने,
दूर करदी दुर्मदों की अंधता को आर्य ने।

दश सहस्रजन कृष्ण-मन्दिर में गए अति हर्ष से,
सुर--असुर संग्राम तुल सकता न इस उत्कर्ष से।
था उधर पशुबल स-आयुध, इधर दैवी सम्पदा,
वह पराजित, जयी दैवी-शक्तियाँ सौख्यप्रदा।

विहँस दी स्मित चाँदनी में
यामिनी मेघावृता;
थी विजय उस पक्ष में—
जिस पक्ष में थी सत्यता

[1]—आफ्रीकनो के दास
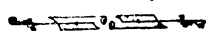
धर्म निरीक्षण

बिन्दु ४

देश से आए यहाँ थे जीविका की खोज में;
हो गये पर मधुप के-से निरत सत्य--सरोज में।
"चल रही है विश्व-गति अखिलेश के सङ्केत में।"
अङ्कुरित थे सत्य--सेवा-भाव उर के खेत में।

भारतीयों के लिए ही था न उर आश्रय बना;
विश्व-बांधव में नहीं थी एक देशी वासना।
लक्ष्य था उन्मूल करना रङ्ग के विद्वेष का,
क्रूर शासक और शासित, शोष्य--शोषक--क्लेश का।

देशवासी के लिए ही थीं न सेवासक्तियाँ,
पीडितों की सांत्वना को थीं अमल अनुरक्तियाँ।
मधुप मञ्जुल मुकुल में ज्यों देखता मकरन्द को,
छन्द देते ज्यों सुधारस विज्ञ विद्वद्वृन्द को—

इन्दु किरणों के अधर से पद्मिनी को चूमकर,
मुदित होती कोकिला ज्यों आम्रतरु पर झूमकर।
भक्त सुख पाता दुखी की विपुल व्यथा विलीन कर,
चिर स्रवित दृग-निर्झरों की अश्रु-मणियां बीन कर।

अर्चना या वन्दना के व्यर्थ सब गुण-गान हैं,
भक्त को तो सत्य-सेवा ही स्वयं भगवान हैं।
मानवेतर देह में ईसा न ईश्वर पा सका;
इसलिए पशु-पक्षियों पर वह न ममता ला सका।

थी यही सङ्कीर्णता या न्यूनता इस्लाम में;
था नहीं औदार्य, जो था राम में, घनश्याम में।
थे वहाँ कुछ किन्तु टालस्टाय जैसे सन्त भी,
हुआ करते कण्टकों में ज्यों सुकोमल वृन्त भी।

मनुजता ज्यों गोर–कालों में न बँट सकती कभी,
ऊर्मियाँ असि-धार से ज्यों है न कट सकती कभी।
सन्त की सीमा न होती पूर्व–पश्चिम की दिशा,
विश्व की, सन्तुष्ट करता ज्ञान–जिज्ञासा-तृषा।

देखते सद्बुद्ध जन के अमल दृग अविराम हैं—
आगगन, जल, भूमि व्यापक राम, केवल राम हैं।
मधुप के मृदु गुञ्जनों में, कोकिला के गीत में—
ईश अविरत निरत सरिता के सरस सङ्गीत में।

गाय, बकरी, श्वान, सूकर, अश्व, गज, मृग, स्यार में—
है नहीं ईश्वर जहाँ, वह कौन स्थल संसार में?
बुद्ध या ईसा कि, व्यापक प्रेम को किसने छुआ,
पूर्व–पश्चिम का यहाँ पर स्पष्ट था अन्तर हुआ।

थीं न आर्येतर मतों में वृत्तियाँ समतामयी,
वेद–वन्दित भारतीया भारती ममतामयी।
'सर्वभूत हितेरतः' की थी न वह आस्था नयी,
सुघर संस्कृति पूर्व की ही विश्व को मङ्गलमयी।

शुभागमन, पुनर्गमन

बिन्दु ५

सींचकर नेटाल की कांग्रेस की जड़ त्याग से,
हुए प्रेरित मातृ-भू के दर्श के अनुराग से ।
सुहृदजन से सानुनय छः मास का अवकाश ले,
तीन वर्षों में समुत्सुक हिन्द को गांधी चले ।

पुण्य भू के दर्श से निज नयन को पावन बना—
कर हृदय के स्नेह की श्रद्धाञ्जली से अर्चना—
सुदृढ़ करने में प्रवासी बन्धुओं के पक्ष को—
सजग करने में लगे मृदु हिन्द के हृत्कक्ष को ।

'हरी पुस्तक'[1] लिख प्रकट की अकथ दुस्सह वेदना,
दी जगा, थी हिन्द माँ की सुप्त जो संवेदना ।
की प्रकट परदेशियों की क्रूर गति-विधि कर्कशा,
सिन्धु के उसपार बसते हिन्दियों की दुर्दशा ।

"भारतीयों पर विदेशी बरसते अङ्गार हैं,
पशु सदृश सहते घृणामय हम दुसह दुत्कार हैं ।
गौरजन-रक्षित पथों पर हम न चल सकते कभी,
अग्नि में अपमान की है दग्ध काले जन सभी ।

"मूल्य शासन में न रखती हिन्द की अबला गिरा,
हिन्दियों को है नरक-सी भूमि वह स्वर्गापरा ।
है नहीं हमको वहाँ अधिकार निज मतदान का,
पाप की निशि में न पाते स्वप्न भी सम्मान का ।

१-हरे रङ्ग के आवरण की पुस्तिका जिसमें प्रवासी भारतीयों की दुर्दशा का वर्णन था ।

"प्रकट कर सकते न पीड़ा, जीभ पर ताले पड़े,
नयन से बहते, व्यथा के वक्ष जो छाले पड़े।"
प्रथम फिरोजशाह आदिक विज्ञ वृन्दों से मिले,
मिले फिर भाण्डारकर औ' तिलक, धृतमति गोखले।

मिल गया सहयोग पत्रों-पत्रिकाओं का विशद,
पक्ष मे थे हो गए ज्यों लेखनी लेकर द्विरद।
हिन्द को अवगत हुई निज लाड़िलों की दुर्दशा,
जग गयी उद्धार की झट उदधि के उर में तृषा।

सोच पाए भी न पूरा यत्न थे उद्धार का,
"लौट आओ" का पड़ा स्वर श्रवण, आर्त पुकार का।
चल पड़े अविलम्ब गांधी दूर करने को अमा,
साथ में दो सुत[1] सुमन से, चन्द्रिका-सी प्रियतमा।

सिन्धु उरको चीर, पहुँचा यान जब नेटाल — तट;
दहकती देखी वहाँ विद्रोह की ज्वाल विकट।
"यान से उतरे कि समझो दीपका निर्वाण है;
लौट जाओ!" लौटने को छूटता क्या बाण है?

"मृत्यु के लघु ग्रास मानव! प्रिय न तुझको प्राण है?"
"स्वत्व-हित स्वीकृत सुमन को शैल का आह्वान है।"
चल पड़े जब अभय पथ पर सिंह के अनुसार थे;
लात-घूँसों, माँस-अण्डों से हुए सत्कार थे।

अन्ततः अपमान में भी रख विमल निज मानको—
राजकीय सुरक्षा में पहुँच पाए स्थान को।
"दण्ड को अपराधियों को आप न्यायालय चलें।"
"देह-दण्ड न दण्ड, है वह दण्ड जो मनको खले।"

१—हीरालाल, रामदास गांधी

"दण्ड से न विधान के, वे हृदय धुलने पायँगे;
हृदय ही निर्मल नहीं तब पाप कैसे जायँगे ?
है नहीं अपराध उनका, धारणा ही भ्रांतिमय;
रक्त के दुर्दर्प-दलिता मनुज के मन की विनय ।

"मानवात्मा—दृष्टि—सम्मुख वह घड़ी भी आयगी—
मेघमाला के विलय पर चाँदनी मुसकायगी ।"
इस क्षमा की महत्ता ने दर्प के मदको दला;
देव-पुरुषों का विभूषण—"दुष्कृती का भी भला ।"

जग न सकती अहिंसक के
हृदय प्रतिहिंसा कभी;
"विश्व से विद्वेष की
दुर्वृत्तियाँ जाएँ सभी ।"

सेवा
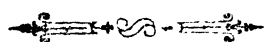
बिन्दु ६

छिड़ गया जब 'बोअरों' से आंग्ल का संघर्ष था,
महात्मा-दृष्टि-सम्मुख परम सेवादर्श था ।
आर्त-आहत-सुश्रुसा-संलग्न गांधी हो गये,
जो स्वयं दुर्लभ्य सेवा पंथ में थे खो गये ।

जग उठी जो थी हृदय में भावना युग से पली,
भक्त को भगवान की थी वाञ्छिता सेवा मिली ।
आर्त के प्रति आर्द्रता में अर्चना भगवान की,
दुखित की सेवा, सदा सेवा स्वयं भगवान की ।

पूजते निज स्वार्थ को नर मूर्तियाँ पाषाण की,
पीड़ितों के प्राण जो जन, पूर्तियाँ भगवान की।
पोंछ लेते क्यों न दृग आक्रान्त के वे दौड़ कर,
द्रौपदी-सी मनुजता-हित गरुड़-सा रथ छोड़ कर ?

अथक सेवा के, तपोमय भूमि पर अवतार थे,
दैत्य-दलिता दीनता को प्रेम की मधु-धार थे।
थे अकेले, सांत्वना के पर वृहद् परिवार थे,
थे स्वयं नाविक निपुण वे, वे स्वयं पतवार थे।

सोचते जब पोंछते व्रण "ये न व्रण नर-वक्ष में,
अस्त्र-आहत रो रही हा! मनुजता प्रत्यक्ष में।"
देखते जब "दैत्य आतुर सृष्टि के संहार को,
हैं समुत्सुक छीनने को रुद्र के अधिकार को।

"या कि यम के दण्ड को विश्राम देने के लिए—
मनुज ने बन कंस-रावण हाथ शोणित में किये ?"
वर्ष दो तक मनुजता की दानवी दुर्वञ्चना—
खेलती होली रही नर-रक्त रँग रोरी बना।

अग्नि थी अब शांत, जनकी जब कि होली जल गयी,
पूर उतरा जब कि पावस की तरुणता ढल गयी।
भूमि मरघट-सी भयावह, थी निशा पीड़ामयी,
क्या पता, कब आयेगी फिर इन्दु की आभा नयी!

किन्तु मरघट से प्रलय के दृश्य में भी इन्दु-से,
मनुजता के भक्त गांधी थे सुधा के सिन्धु-से।
प्रबल लपटों में भयावह जब कि प्रतिजन दग्ध था—
प्रेम की मधुमयी वाणी पोंछ लेती थी व्यथा।

कौन था आहत कि जो इस प्रेम का भूखा न था ?
था वही बस, स्नेहमय सुख-स्रोत जो सूखा न था।
चरण की गति देखकर थी दामिनी जाती लजा,
अधर की स्मिति से लजाती थी सुविकसित पद्मजा।

प्रेम से पूरित दृगों में था सुधाधर आ बसा,
दर्श की थी, प्रेमघन के, चातकी को भी तृषा।
ला सकी थी विविध जन--सम्पर्क में सद्वृत्तियाँ;
मुदित थे सब, कमल की ज्यों अर्क-में अनुरक्तियाँ।

भारत की ओर

बिन्दु ७

युद्ध से विनिवृत्त हो जब देश को आने लगे,
भारतीय प्रवासियों के बदन मुरझाने लगे।
था बसा प्रत्येक जन के नयन में सावन नया,
मधुप का मकरन्द का था स्नेह बन्धन बन गया।

हृदय की श्रद्धा बनी प्रेमाश्रु की धारा धवल,
था द्रवित रवि-रश्मि-उष्मा से तपित ज्यों हिम-अचल।
विरह-पीड़ा का दृगों में था अन्धेरा छा रहा,
'हा ! हमारा बन्धु हमसे आज बिछुड़ा जा रहा।

"जब कि उमड़ेंगे गगन में वेदना के कृष्ण घन,
कौन दमकेगा हमारे मार्ग में आलोक बन ?
हिन्दियों की नाव जब-जब आयगी तूफान में-
कौन नाविक लायगा नव प्राण तब इन प्राण में !"

"बन्धुओं ! कृतकृत्य हूँ इस स्नेह के अभिषेक से,
हृदयतल पर हैं अमिट ये दृश्य प्रस्तर-रेख से।
दूर होकर भी निकट हूँ, बद्ध हूँ मैं पाश में,
भले चातक भूमि पर हों, मेघ हों आकाश में।

"जब बुलाओगे, उपस्थित
हो सकूँगा मैं यहाँ।"
भक्त को ठुकरा सकें,
भगवान में है बल कहाँ?

× × × ×

रौप्य, कञ्चन के विभूषण, रत्न थे उपहार में,
राष्ट्र-सेवा, स्नेह, तप, उपकार के आभार में।
देख कर यह सम्पदा गांधी पड़े अति सोच में,
"लूँ न लूँ यह राशि धन की ?" थे अगम सङ्कोच में।

"मूल्य सेवा का न शोभायोग्य सेवक को कभी,
मूल्य लेकर की गयी सेवा, नहीं सेवा कभी।
सेवकों के, स्वार्थ से, अन्तर सदा अविकार हों,
पञ्च की सम्पत्तियों पर पञ्च का अधिकार हो।"

श्रीमती[१] उर किन्तु धन का मोह था नारी-सुलभ,
सहज ही दीपक-शिखा पर मुग्ध हो जाता शलभ।
"प्राप्त यह प्रिय राशि धन की लौटने दूँगी न मैं।"
"बहुत ला दूँगा, नहीं सामर्थ्य से हूँ हीन मैं।"

"ला चुके, सब होम डाला प्रथम ही, जो था बचा।"
"त्याग की प्रतिमूर्ति को री ! स्वार्थ यह कैसे जँचा ?
द्रव्य जनता का प्रिये ! यह, व्यर्थ का सम्मोह क्यों ?
दूसरों की वस्तुओं का है दुखद विछोह क्यों ?

१—श्रीमती कस्तुराबाई

"है न सेवा, ले चुके यदि मूल्य हम प्रतिदान में,
हो प्रिये अनुरक्ति केवल प्रेम में, भगवान में।"
"तुम बनो त्यागी, सुतों को मत सिखाओ साधुता,
निठुर ! उन्मूलित करो मत सुनहरी आशा-लता।"

वारिधि-वर्षा थी उधर तो वेदनाओं में सनी,
थी प्रवाहित हृदय की, दृग-जलज में, जलवाहिनी।
मर्म सेवा का बता कर प्रिया को समझा सके,
शूल-शयिता नीरजा को नीर पर सहला सके।

प्रिय प्रवासी बन्धुओं को सौंप कर सब सम्पदा—
मातृ-भू के दर्श के हित प्रियतमा, सुत सह विदा।
ज्येष्ठ हीरालाल बालक खेलता जलयान पर,
नृत्यरत था रामदास सुलहरियों की तान पर।

छा रही मणिलाल की स्मिति
इन्दु के उल्लास पर;
गोद थी बलिहार माँ की
पुत्र देवीदास पर।

शुभागमन, पुनर्गमन

बिन्दु ८

प्रथम ही जो कार्य गांधी ने यहाँ आकर किया—
राष्ट्र को निज लाड़िलों के दुःख का परिचय दिया।
पर्व में कांग्रेस के वे समुद कलकत्ता चले,
कह-सके किस भांति बांधव दलित हैं पशु-पद तले।

इस महोत्सव में कई नीतिज्ञ जननायक मिले,
दीनशाह, फिरोजशाह और घोषल, गोखले।
थे समर्थक सभी गांधी के विमल अभियान के।
कौन विज्ञ न चाहता निशि के, सुफल प्रयाण के!

क्रूर आफ्रीकन प्रपीड़न पर घृणाएँ थीं ढलीं,
निगलने तमको सरोषा दीपिकाएँ थीं जलीं।
देश के प्रत्येक जन-मन में घृणा का भाव था,
दानवी विद्वेश के प्रति रोष का प्रस्ताव था।

सिन्धु के उस पार रावण सदल-बल उद्दाम था,
इधर रथ पर सत्य के हुङ्कार करता राम था।
तीस दिन रह गोखले के स्नेहमय सम्पर्क में
पा सुखद सुविकास शतदल ज्यों कि प्रातः अर्क में।

छोड़ कलकत्ता, मनोरम नगरियों की उर्वशी,
दर्श को विश्वेश के वे चल दिये वाराणसी।
निम्न श्रेणी में प्रथम यह कष्टमय संयोग था,
रेल के डिब्बे खचाखच, भेड़ के बाड़े यथा।

यात्रियों में थी न जिनके, बोलने की सभ्यता,
बैठने के स्थान पर ही थूकने की स्वच्छता।
शिष्टता जिनमें न कुछ भी, लोग हैं किस मूल में,
इस हृदय की हीनता के, दासता ही मूल में।

भ्रमण कर कुछ दिवस यों ही, जीविका-उद्देश्य से—
गोखले के सदाग्रह से बम्बई में आ बसे।
एक स्थल अधिवास किन्तु न प्रकृति को स्वीकार्य था,
प्रवाहित रहना पवन की प्रगति को अनिवार्य था।

पुनः डरबन से पड़ी श्रुति "लौट आओ" की गिरा,
यान सत्वर सिन्धु की उत्ताल लहरों पर तिरा।
शिष्ट-मण्डल एक गांधी के निपुण नेतृत्व में,
मिला चेम्बरलेन[1] से—"हो स्वत्व समता का हमें।"

"यत्न मेरा है कि जन-जन में न कोई भेद हो;
एक की उद्दण्डता से दूसरे को खेद हो।
गोर का, पर देश यह अतएव उनसे क्या कहें!
उचित है—सद्भाव से, सौहार्द्र से मिलकर रहें।"

नग्नता में आ गया यों दर्प दुर्मद रङ्ग का,
रुद्र के उर में लगा यह तीक्ष्ण व्यङ्ग अनङ्ग का।
हिन्द के सम्मान को इस उक्ति ने झुलसा दिया;
शिष्ट-मण्डल दूसरा मिलने चला प्रिटोरिया।

मिल न पाये किन्तु गांधी वहाँ पर प्रतिबन्ध था।
देखने दुष्कृत्य अपने राज-मद मद-अन्ध था।
अन्त में, थी ललकती-सी द्वेष की ज्वाला जहाँ—
खोदने को पाप की जड़, जम गये गांधी वहाँ।

१—इङ्गलैण्ड के तत्कालीन प्रधान मन्त्री

न्याय की तलवार जब सिर पर लटकता हो जहाँ,
ढाल बनने को स्वयं प्रभु बाध्य होता है वहाँ।
सह सके न हिरण्यकश्यप के जभी उन्माद को,
सिंह बन प्रभु ने बचाया भक्तवर प्रल्हाद को।

आज फिर थी होलिका में
परीक्षा प्रल्हाद की।
समझ लो—हैं निकट घड़ियाँ,
इस दुसह अवसाद की।

जब दमन विकराल, संयम छूटता,
पाप से परिपूर्ण हो, घट फूटता।
अग्नि रहती है न तृण-सङ्कुल कभी;
दमन से न परास्त होता सत्य भी।

पञ्चमोर्मि

इण्डियन ओपीनियन

बिन्दु १

हो गया निश्चय वहाँ पर जब कि स्थायी वास का,
आर्तजन-मन-स्नेह में जब बँधगए पीयूष-घन,
हिन्दियों की भावनाओं के प्रसारण के लिए,
पत्र साप्ताहिक निकाला 'इण्डियन ओपीनियन'

पत्र, गांधी के हृदय की विमलता की ज्योति का—
था अमल आदर्श, जिसमें बिम्बिता सद्वृत्तियाँ,
था सुधा-सर मुदित जिसमें सत्य की सुमनावली
शत्रु के प्रति भी न थीं दुश्शब्द की दुर् उक्तियाँ।

शत्रुता थी शत्रुता से, शत्रु से तो स्नेह ही,
पङ्क-आवृत पत्र धोने से न होता शुद्ध क्या ?
वैर की दुर्वृत्तियों से हृदय जिनके हैं कलुष—
चिर विलासों में पले जन हो न जाते बुद्ध क्या ?

है सितासित चर्म का दुर्भेद भौतिक चक्षु में,
किन्तु सत् आत्मा सदा है अलौकिक आलोकमय,
अज्ञता-घन-आवरण में तमावृत जिनके नयन—
घन-विगत निश कलाधर की कांतियुत नीला निलय।

ज्ञान-रवि की रश्मियों से निर्विकृत समदृष्टि में—
एक चेतनता समाहित जलज-खग-मृग-मनुजतन,
विपुल-वारिधि-लहरियों में है तरलता एक ही,
है सभी के स्पन्दनों में एक ही जीवन-पवन।

अपेक्षित निर्भ्रांति को पर अमलता आदर्श का,
विकृति पर मलका विदूरण भी परम अनिवार्य हैं,
मालियों के सुमन-तरु के शूल से लगता न भय,
चिकित्सक को रोगियों का रोष भी स्वीकार्य है।

आगया संयोग भ्रष्टाचार के आरोप का—
एशियावासी जनों पर गौरजन से जो हुए,
किन्तु न्यायालय नहीं निष्पक्ष था पाया गया,
गौर (!) जन को न्याय की सच्छृङ्खलाएँ क्यों छुएँ ?

किन्तु जनमत की प्रबलता में नहीं वे टिक सके,
हाथ धो अधिकार से, था पदच्युत होना पड़ा,
गौरता की गर्व--गुरुता गलित होकर ही रही,
सत्य सह सकता कहाँ तक पाप का पूरित घड़ा ?

कुपित थे वे पाप के परिणाम को पाकर अमित,
किन्तु उनसे भी नहीं था रोष गांधी के हृदय,
ताड़ना देता पिता निज पुत्र को अपराध की,
सूखता इस कोप से क्या चारु निर्झर स्नेहमय !

अंततः अपराधियों ने साधुता पहिचान कर,
मनुजता के मर्म की सद्वृत्तियों का तल छुआ,
सदय गांधी से, हृदय से की क्षमा की याचना,
आगया था रात को घर, प्रातः का भूला हुआ।

शत्रु के प्रति भी सुनिर्मल प्रेम के व्यवहार से,
हो गये अंग्रेज अगणित बन्धु-से, सन्मित्र-से,
वैर के प्रतिदान में जो स्नेह का सावन ढले—
क्यों न हो श्रद्धेय वे जन गङ्गा-नीर पवित्र-से !

थे जहाँ पर एशिया के अधर पर ताल पड़े,
"इण्डियन ओपीनियन' था मूक की वाणी बन';
अर्क को जैसे जगत का तम-विदूरण इष्ट है-
सज्जनों का लक्ष्य होता सत्य की संस्थापना ।

फिनिक्स में

बिन्दु १

सत्पुरुष की महत्ता, उत्कर्ष आदि सँवारने-
सुखद शुभ संयोग आते पंथ में हैं सहज ही,
सुकृति रस्किन[१]-रचित 'अन्टुदिस लास्ट' थी उनको मिली,
निपुणतायुत व्यक्त जिसमें मार्ग जीवन का सही ।

सर्वजन-समुदय-समुन्नति-भावना जो थी हृदय,
क्रांति कथन में नयी थी भर गया वह पुस्तिका;
"एक नाई, वणिक, धोबी, याकि अभिभाषक निपुण-
अधोचत की विषम व्याख्या कर न पाए जीविका ।

"है कृषक अथवा श्रमिक का वास्तविक जीवन विमल,
नगर की कृत्रिम विभाएँ छद्म सी गुरु भूल है;
प्रकृति के प्रतिकूल भी यह और है व्यय साध्य भी-
ग्राम का जीवन सदा ही प्रकृति के अनुकूल है ।"

लेखनी में चतुर लेखक की, अतुल प्रभाव था,
हो गये सब भाव गांधी के सुचित्रित वक्ष में,
चल पड़े तज नगर की विद्युन्मयी कृत्रिम प्रभा,
बन गया ऋषिकेश-आश्रम निर्विलम्ब फिनिक्स में ।

१-एक लेखक का नाम

'इण्डियन ओपीनियन' भी चेतनाएँ नव लिए—
वहीं से आलोकिता नव रश्मि फैलाने लगा;
विश्व बांधवता पुनीता, त्याग, तप सन्मुक्ति के—
भाव गांधी के विमल निज पृष्ठ पर लाने लगा।

प्रेम आश्रम बन गया था एक छोटे ग्राम-सा,
आंग्ल, हिंदी आदि सब ही एक ही परिवार थे;
थी प्रवाहित नाव जीवन की सुनिर्मल सिंध पर,
स्नेह-सुरभि-समीर-झोंके प्रेम की मनुहार-से।

सेवा और संयम

बिन्दु ३

चाहते गांधी कि जमकर, बैठकर सेवा करूँ,
प्रकृति को था इष्ट, सरिता-से सदा बहते रहें;
पत्र था—"नेटाल में हैं द्रोह कर बैठे जलू[1]।"
आहतों की आर्त वाणी दयामय कैसे रहें?

फट पड़े वे दौड़ सेवा को परम उत्साह से,
ग्राह-ग्रसिता मनुजता को थी मिली आशा-किरण;
थी समुत्सुक जो कि स्वागत को, करुण लोचन बिछा,
की उन्होंने अश्रु से आप्लाविता श्रद्धा वरण।

राज्य से थे कुछ नये 'कर' जुलू लोगों पर लगे,
एक अधिकारी गया प्रतिरोध में उनसे हना,
बस, इसी अपराध पर गौराङ्ग प्रभु के कोपने—
तोष पाया जुलू-जन के रक्त की होली मना।

१—दक्षिण आफ्रीका के आदिवासी

था न माना राज्य के अभिशाप को वरदान-सा,
स्वत्व के सम्मान में भी मौत ही परिणाम में।
गोर-सेना का जुलू पर था न वह प्रत्याक्रमण,
किंतु मृगया को मनुज की, वीर जन (!) थे आ जमे।

निगलती थी काल-जिव्हा जो जहाँ पाया गया,
ग्राम, नर, पशु, टपरियाँ थी ग्रास लपटों की हुई।
जलद भी नभ से न शीतल अश्रु दो बरसा सके,
जलज के स्मित हास को भी रक्त की धारा छुई।

सह न पाते जब दिवाकर दनुज की दुर्वञ्चना,
मुँह छिपा लेते निशा में दिवस का पथ लाँघ कर;
किंतु साहस इंदु में भी था न जो मुसका सके,
पोंछ पाते थे न मानव की व्यथाएँ किरण-कर

आर्त की चीत्कार सुनकर था पवन भी सिसकता——
व्योम के उर की व्यथाएँ धधकती निर्धूम थीं;
थे विहँसते वधिक निर्मम रक्त-प्यासे लास ले,
सांत्वना का रथ सजाए मात्र थे गांधी-रथी।

पुण्य सेवा कार्य रति में पंथ संयम का मिला,
"है अपेक्षित ब्रह्मचर्य अकाम सेवा के लिये;
"काम दुर-अवरोध पथ का, अधिक संतति भार है,"
जग उठे जगमग हृदय-सद्ज्ञान-संयम के दिये।

कर्म-पथ पर धर्म-धृति के थे समुज्ज्वल दृढ़ चरण,
सत्य सेवा और संयम का समन्वय हो गया;
प्रातः-रवि की रश्मि में थी हृदय-कलिका प्रमुदिता——
मोह ममता का, अतल में था अंधेरा सो गया।

ब्रह्म की जो विमल चर्या आचरण में ला सके—
हैं अलौकिक और लौकिक सेविका समृद्धियाँ;
जो कि निज कृति चारुता में ब्रह्म ही को बांधाले—
क्यों न उसकी आश्रिता हों, सब सफलता, सिद्धियाँ।

सत्याग्रह

बिन्दु ४
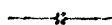
राज्य आफ्रीकी निरंतर कर रहा अपमान था,
वक्ष का पौर्वात्य जन के भर न पाता एक व्रण।
दूसरा आघात होता था विषैले तीर का,
किन्तु अब तक शान्त थे वे दिव्य दृग मनमथ—मथन।

राज्य का आदेश था—सब देह—अङ्गाले चिन्ह को,
पत्र पर अङ्कित कराएँ वहाँ पर स्थिर वास को।
और स्वीकृति-पत्र अहरह साथ में अपने रखें,
साधिकृत अधिकार के स्वीकृत हुए विश्वास को।

दुराज्ञा अनुसार तन के चिन्ह—अङ्कन के लिए,
कर्मचारी देख सकते नारियों के अङ्ग भी।
आह, इस निर्लज्जता पर थी स्वयं लज्जा नमित—
घृणा ढलता इस प्रथा पर था घृणा का व्यङ्ग भी।

सह्य कब पर सत्य शोधक के लिए यह असत तम!
न्याय ने निर्णय किया अन्याय के प्रतिकार का;
किंतु प्रतिहिंसा नहीं थी वैरयुत प्रतिरोध की,
न्याय-पथ पर दृढ़ चरण था प्रेम के परिवार का।

दर्प-दंशित राज्य-मद को नीम भी मीठा लगा,
दमन के रचने लगे नित नियम, न्यायालय नये।
इस अपर कुरु धरा पर फिर पाञ्चजन्योद्घोष था,
भव्यतम प्रासाद अगणित कृष्ण-मन्दिर बन गये।

संधि-चर्चा से न दुर्योधन सुपथ पर आसका,
युद्ध के अतिरिक्त प्रभु को मार्ग तब क्या शेष था।
थे सुदर्शन-रहित गांधी अस्त्र 'समदर्शन' लिए,
महाभारत से अतः यह समर और विशेष था।

ध्येय था मद-अन्ध का वध सत्य के रण में नहीं,
लक्ष्य था-मद-अन्धता का अंत मानव-हृदय से।
रक्त के विद्वेष से जलती हुई उर-भूमि पर,
स्नेह-शीतल स्निग्ध छाया इन्दु की आकर बसे।

दमन की लपटें गगन पर कर रही फुङ्कार थीं,
पर निखरता जा रहा था स्वर्ण तपकर आग में।
शूल मृदुतम पँखुड़ियों में चुभ रहे थे तीक्ष्णतम,
द्वेष का विष आ न पाया किन्तु पुष्प पराग में।

जहाँ पर सत्ता लगाती निरङ्कुश प्रतिबन्ध थी,
बिना स्वीकृति-पत्र हिन्दी पहुँच जाते थे वहाँ।
अभय सिंहों से विचरते थे विवर्जित क्षेत्र में,
ज्यों गरु हों, फुङ्कारित हों क्रूर नागिनियाँ जहाँ।

राज्य-मद था अनल-जल-बल था सजल सावन पयद,
वह पयद तो यह प्रभञ्जन का प्रबल सामर्थ्य था।
वह विषम ज्वर-ग्रस्त तन का सन्निपाताक्रांत मन,
सत्य-औषधि यह अमोघा प्रेम पावन पथ्य था।

देख अतुलित बल, अहिंसा का, तनिक सत्ता झुकी,
आत्मघाती दुर्विधानों के विलय का दे वचन ।
किन्तु परिपालन प्रतिज्ञा का नहीं वह कर सकी,
मूल्य समझे वचन का क्या छद्म से अभिभूत मन ?

किन्तु तप से अंततः, तम का पराभव हो गया
विफल जा सकता कभी क्या दिव्य दिनकर का उदय ?
हो सका अष्टाब्द--रण पर अस्त वह कलुषित नियम,
कर सका था प्रबल मारुत मेघ मालाएँ विलय ।

बहुमुखी प्रयोग

बिन्दु ५

था उधर अन्याय के प्रति न्याय का रण चल रहा,
चल रहे थे इधर उन्नति के विविध प्रयोग भी ।
रम्य 'टालस्टाय—आश्रम' के सुघर निर्माण को--
मिला जर्मन मित्र 'केलन बेक' का सहयोग भी ।

स्वावलम्बन के लिये थी वहाँ विविध प्रवृत्तियाँ,
हस्त--कौशल, शिल्प, कृषि या चर्म--वस्तूत्पादिका ।
शौच--आलय--स्वच्छता का कर्म--शिक्षण सङ्ग था,
था बनी आदर्श संस्था स्नेह की संस्थापिका ।

कर्म में श्रेणी नहीं थी ऊंच-नीच न भाव में
रङ्ग जाति--विभेदगत यह प्रेम का परिवार था ।
सत्य--संयम--साधना का था सुगुरुकुल स्थान यह,
स्पन्द का प्रत्येक उर नैर्मल्य का आधार था ।

अशन उत्तेजक न, संयत शक्तिवर्धक, स्वास्थ्य--प्रद,
आचरण की चारुता पर चन्द्रिका थी नत--शिरा ।
सत्य के आलोक के थी खोज की यह साधना
थी स्वयं सञ्चालिका सद्बुद्धियों की सद्गिरा ।

अशन, जल, उपवास अथवा मृत्तिका उपचार के,
स्वास्थ्य की शुभ साधना के थे विविध प्रयोग भी ।
और आश्रम वासियों के कलुष अंतर-शुद्धि को,
प्रबल प्रायश्चित-अनल को स्वयं लेते भोग भी ।

मान्यता थी-"सत्य की होती विजय है सर्वदा",
अतः न्यायालयों में निज वादियों की भूल को ।
मान लेते थे अभय हो विजय में विश्वास रख,
कर लिया करते सदा अनुकूल वे प्रतिकूल को ।

आठ वर्षों तक निरन्तर सत्य-रण--संलग्न रह,
रङ्ग के विद्वेष के उस दमन के मद को दला ।
शत्रुता अभिभूत मन पर प्रेम का परिमल बहा,
विश्व-बान्धव जभी हो निज देश भारत को चला ।

उन दिनों श्री गोखले रुजग्रस्त थे इंग्लेण्ड में,
अतः मोहनदास गांधी रुके मिलने के लिये ।
सफल सत्याग्रह समर के वृत्त से अवगत करा,
मातृ--भू के दर्श पाने को समुत्सुक चल दिये ।

माँ की ममता विकल पुत्र-दर्शन को
रहती है चातक की चिंता घन को,
रखती जब कुपुत्र पर भी माँ ममता
सुपुत्र पर क्यों प्रेम न सहज बरसता ?

षष्ठमयोर्मि

भारत में

बिन्दु १

शुभ स्वागत को बिछे हुए थे भारत माता के लोचन,
"कब आकर नव ज्योति भरेगी महा तमस् में स्वर्ण किरण!"।
क्षीर सिन्धु की चपल तरङ्गें पद--प्रक्षालन को आतुर,
थे बम्बई नगर के तट के प्रस्तर में भी प्रेमाङ्कुर।

झाँक रहे थे दूर क्षितिज में उत्सुक दृग अगणित अपलक,
माँ के पद पर झुका तभी आ गांधी का गर्वित मस्तक।
पथ पर गुलाल बिखराता--सा आदरयुक्त नमित अम्बर,
मलय-सुगंधित पवन प्रवाहित ज्यों सद्श्रद्धाओं का 'चर'।

स्नेह-ऊर्मि-ऊर्मिल हृदयों की होड़ लगी थी सागर से,
नभ का उर गुञ्जायमान था "जय जय गांधी" के स्वर से।
कोटि दृगों ने इस लघु तन में पाया कैसा आकर्षण,
नहीं चातकों को भी इतना रखते हैं स्वाती के घन।

मुदित मुकुल भी खींच न पाते मधुकर को इतने बल से,
यह न छोड़ता, छूटें चाहे शलभ दीप के अञ्चल से।
'लार्ड विलिंग्डन'[१] से आवश्यक चर्चा कर पूना आये,
जहाँ गोखले ने मृदु उर के स्निग्ध स्नेह-घन बरसाये।

चले पोरबन्दर फिर, पूज्या भाभी के करने दर्शन,
चूम रहा था श्रद्धाओं से चरणों को पथ का कण-कण।
वीरमगाँव-प्रजा पथ में निज शोषण कथा लिए आयी,
तभी गवर्नर से मिलकर उनकी जकात[२] भी छुड़वायी।

१-बम्बई के तत्कालीन गवर्नर। २-एक प्रकार का 'कर'।

जग की व्यथा-विदूरगा को था गांधी ने अवतार लिया,
सुर को सुधा-कलश दे शिव ने स्वयं हलाहल पान किया।
चले काँगड़ी, फिनिक्स की निज मित्र-मण्डली से मिलने,
स्वामी श्रद्धानन्द-हृदय के जहाँ प्रेम के थे पलने।

शुभ स्वागत के समारोह में थी अभिनन्दित गुणावली,
सर्वप्रथम थी जहाँ 'महात्मा' कहने को वाणी मचली।
शांति निकेतन में कविवर श्री रवीन्द्र के दर्शन पाये
रवीन्द्र होकर जो वाणी में शशि की शीतलता लाये।

कवि के स्नेहोन्मुक्त हृदय में कविता का माधुर्य मिला,
पा रवीन्द्र, गांधी के मानस का मधुमय अरविन्द खिला।
हो रवीन्द्र से विदा चले वे हरिद्वार लक्ष्मण झूला,
दर्शोत्फुल्लित जन पद-पद पर मधुऋतु में ज्यों वन फूला।

जहाँ जहाँ जाते, बिछ जातीं जन-जन मनकी श्रद्धाएँ,
मानो उमड़ उमड़ पड़ती थीं पावस ऋतु की हरिताएँ।
मित्र-जनों के सद्-आग्रह से स्थायी वास समझ समुचित,
किया अहमदाबाद निकट तब एक रम्य आश्रय स्थापित।

मुक्त द्वार था जिसका-सेवा सत्य अहिंसा साधक को,
रूप-वर्ण था बाधित कर सकता न वहाँ आराधक को।
वहाँ न कोई ब्राह्मण, अंत्यज हिन्दू-मुस्लिम, ईसाई,
एक पिता के पुत्र सभी थे सच्चरित्र भाई भाई।

विश्व-बंधुता के पनघट का
प्रेम सरोवर था आश्रम।
चर्खे का 'गुन-गुन' सिखलाता
काया का, मन का संयम।

चम्पारन और अहमदाबाद में

बिन्दु १
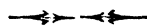
आर्य देश के परिभ्रमण के शुभोद्देश्य से बढ़े चरण,
सत्य-अहिंसोद्भासित रवि-रथ आकर ठहरा चम्पारन।
शत-शत युग में पुनः बुद्ध ने की बिहार-वसुधा पावन,
आतप-तप्त धरा ने युग में पाया फिर मधुमय सावन।

पटना से गांधी गाँवों की झोपड़ियों की ओर चले,
उर की व्यथा प्रकट करने को जन-जग-दृग आँसू उबले।
मृदुल सांत्वना के अञ्चल से पोंछ लिया पीड़ा का जल,
"वर्षा विगत, शरद में होगा सुस्मित निर्धन नभ मण्डल।

पर वसन्त के पूर्व व्यथा पतझड़ की भी सहनी होगी,
पूर्व शरद, पौरूष पावस की सरिताएँ बहनी होंगी।"
थे अनुसार प्रथा-कोष कर्ता अपनी कृषि के सह बाधित,
भूधित[1] के भी लिए 'नील' की करने को कृषि सम्पादित।

यों कृषकों के श्रम के फल को अकर्मण्य जन खा जाते,
और न वे निशि-दिन के श्रम पर सूखे टुकड़े भी पाते।
सह न सके सत्पथ के पंथी कृषक-नयन निसृत निर्झर,
सह न सके वे चतुर चिकित्सक व्रण, जो थे पीड़ित उर पर।

देश-रत्न राजेन्द्र आदि की मिली शक्ति की सरिताएँ,
सौ-सौ सरिता-सङ्गम-सम्मुख क्या कोई तिनके आएँ!
सत्याग्रह के सत्य-अहिंसामय, रण का उद्घोष हुआ,
कृश तन कृषकों के शोणित का कण-कण द्रुत सरोष हुआ।

१-जमींदार

बाध्य हुए सत्पक्ष पुष्टि को सत्ता के दुर्मद लोचन,
हुए नील के वणिक नमित सिर वायु झकोरों से ज्यों तृण।
स्वल्प काल रह वहाँ, निविड़ अज्ञान निशा—तम हरने को,
शुद्धोदन--सुत की संस्कृति का पुनर्जागरण करने को।

ग्राम--ग्राम शिक्षण--शालाएँ किये चिकित्सालय स्थापित,
उद्योगोन्नति की प्रवृत्ति की दैन्य--निवारण को चालित।
वहीं अहमदाबाद नगर से श्रमिक वर्ग की आर्त गिरा—
पहुँची, पहुँचे गजोद्धार को ज्यों कि दया का रथ उतरा।

यन्त्राधिप[1] का मन्त्र न सहमत हुआ स्नेहमय अनुनय से,
सिधी अङ्गुलि घृत न निकलता, प्रीति सदा होती भय से।
सत्याग्रह छिड़गया, कार्य से विरत श्रमिक, हड़ताल हुई,
बीस दिवस पश्चात, सत्य-रण की जयश्री वरमाल हुई।

इसी अवधि में कुछ उच्छृङ्खल श्रमिक अहिंसक रह न सके,
वीर अहिंसक के आयुध उस दृढ़ संयम को सह न सके।
प्रायश्चित में सेनानी[2] ने तीन दिवस उपवास किया,
सत्य अहिंसा का, निज तप के बल, उज्ज्वल इतिहास किया।

इस आन्दोलन के साथी जन
में थी अनसूया बाई,
बेंकर शङ्करलाल और
सरदार वीर वल्लभभाई।

१—मिल मालिक २—महात्माजी

खेड़ा-सत्याग्रह

बिन्दु ३

पर पीड़क, शोषक, शासक को रहता है आराम सदा,
दरिद्र-नारायण के सेवक को तो केवल काम सदा,
भूमिकान्दोलन समाप्त होते खेड़ा से संदेश मिला—
"न्यूनोत्पादन के कारण दुष्कालग्रस्त सम्पूर्ण जिला ।"

बिना लिए विश्राम एक पल दीन-बन्धु रथ जोड़ चले,
दावा-दग्ध विपिन को जैसे शीतल सजल पयोद मिले ।
था विधान-"चतुर्थांश से न्यून अन्न उत्पादन हो,
कृषक, राज्य का 'कर' देने को किसी भाँति भी बाध्य न हो ।"

न्यूनोत्पादन किन्तु न स्वीकृत करते थे अधिकारी जन,
तत्पर थे वे झोपड़ियों का अपहृत करने को तृण-तृण ।
उच्चपदाधिप प्रांतेश्वर तक भेजी अपनी आर्त गिरा,
वन-रोदन सुनने न महल से मदोन्माद नीचे उतरा ।

करने लगे बलात् हस्तगत अधिकारी 'कर' के बदले,
पशु आदिक धन, दीनों के उर जले हुए पर और जले ।
शासन-मद के सत्य सुदृढ़ हो कटि कसकर सम्मुख आया,
सविनय-आज्ञा-अवहेला का दलित जनों ने पथ पाया ।

सत्याग्रहियों के स्वागत को कारागृह के द्वार खुले,
सुरभा का मद-मर्दन करने इधर पवन के सुत मचले ।
वह प्रहार करता शस्त्रों से इनका शौर्य सहन में था,
विद्युत् का अलौकिक यौवन नभ के काले घन में था ।

होता था आघात उधर से तीव्र क्रोध के अनज-मना,
सुरसरि की सिक्ता-सा शीतल इनका मौन प्रहार बना।
वल्लभभाई, बैंकर शङ्कर, इन्दुलाल थे सदल भिड़े,
महादेव[1] भी सत्य अहिंसा आयुध लेकर निकल पड़े।

धारा-सभा भवन दिल्ली श्री विट्ठल[2] ने दिया हिला,
हिमगिरि के शिखरों को छूने सागर का कण-कण मचला।
प्रबल प्रभञ्जन से सत्ता के सुदृढ़ चरण डग-मग डोले,
मदमय दुर्दमनीया गरिमा नमित हुई होले-होले।

समर्थ जन से लिया गया 'कर' शेष जनों को मुक्ति मिली,
"जहाँ सत्य है, वहीं विजय है" जन-जन को यह सूक्ति मिली।
पशुबल-प्रतिमा हुई तिरोहित शुष्क सुमन से सुरभि सदृश,
सत्य-दिवाकर की द्युतियों में तारावलियाँ हुई अदृश।

सेवा का मेवा

बिन्दु ४

प्रवहमान थी इधर सत्य के रण की सावन-सरिताएँ,
व्यूह सदृश दुर्भेद्य बनी थीं कोमल मृसण कलिकाएँ।
प्रति पक्षी की प्रेम-भाव से सविनय, आज्ञा अस्वीकृत,
प्रतिपल पुण्य प्रतिज्ञाओं पर तत्पर करने प्राणार्पित।

उधर 'खिलाफत' आन्दोलन था अली-बन्धु से सञ्चालित,
'गृह-शासन'[3] का देवि वसंती[4] लिए शङ्ख थी उद्घोषित।
धधक रही थी महा समर की यूरूप में धू-धू ज्वाला,
राष्ट्र-राष्ट्र को खा जाने को बना हुआ था मतवाला।

१-महादेव भाई देसाई २-विट्ठल भाई पटेल ३-होमरूल आन्दोलन ४-श्रीमती एनीबीसन्ट

आंग्ल–राज्य पर थे संकट के काले–काले घन छाये,
महा प्रलय ने समर–अग्नि बन पङ्ख मृत्यु के फैलाये।
तिलक चाहते थे–विपन्नताओं से लाभ लिया जाए,
शत्रु घिरा हो जब संकट में प्रबल प्रहार किया जाए।

आशङ्का थी–विजयी होने पर स्वराज्य देगा न कभी
बंधन–मुक्त सिंह को वश में हम कर पाएँगे न कभी,
'राज्य–भक्त'–से गांधी को पर प्रिय न लगा उनका अभिमत,
लगे सैनिकों की भर्ती में जुट कर तन–मन से अविरत।

तिलक चाहते थे इस सेवा के बदले में स्वतन्त्रता,
'स्वार्थ–रहित–सहयोग--अपेक्षा' थे गांधीजी रहे बता।
था इनका विश्वास कि "उपकृत जन होते न कृतघ्न कभी,
समुचित होगा अतः न लेना स्वतन्त्रता का वचन अभी।"

भोले शिव थे जान न पाये दुरभि संधियाँ दुर्गन्धित,
पय को पीकर भी करते हैं विषधर विष ही परिवर्धित।
गरल–प्रपूरित कनक–कलश में मृदुल महात्मा समझे घृत,
जान न पाये–लोह–विभूषण जो कि स्वर्ण से था आवृत।

मधुकर का बंधन बन जाता कमल--कली का हास कभी,
प्राण–विघातक भी बन जाता विषधर का विश्वास कभी।
मुक्त--हृदय से आंग्ल--राज्य को गांधी थे सहयोग--निरत,
थे न किसी से भी पीछे वे करने में निज यत्न सतत।

मधु मक्खी ज्यों मधु का सञ्चय करती अन्य जनों के हित
वे सयत्न थे गौर प्रभू को जय श्री से करने भूषित।
तरुवर वारि--निदाघ सहन कर करते पंथी पर छाया,
गांधी का सहयोग राज्य ने था औदार्य- सना पाया।

किन्तु उन्हीं क्षण दैव-कोष से एक दुखद बेला आयी,
हुए अनवरत श्रमाधिक्य से रोग-ग्रस्त शैया—शायी ।
उधर ईश की अनुकम्पा से समर-अनल भी शांत बना,
शांति देवि की सौम्य रश्मियाँ जागी अलसित क्लांत मना ।

द्वेष-विदग्धा मानवता को युग में फिर नव श्वास मिला,
प्रखर रोहिणी-तप्त धरा को आर्द्रा का विश्वास मिला ।
विलय अनलमय रुधिर घटाएँ छाईं शीतल श्याम घटा,
मृदुल महात्मा के मृदु उर से गुरुतर दुख का भार हटा ।

किन्तु तिलक की आशङ्का में था जो कुछ भी तथ्य भरा,
श्री गांधी की आशाओं के उपवन पर पतझड़ उतरा ।
सेवा का परिणाम दमन की ज्वालाएँ बन कर छाया,
स्वतन्त्रता का स्वर्णिम सपना 'रोलट--बिल'[१] बनकर आया ।

शासक—शासित का न कभी भी,
स्नेह—पूर्ण सम्बन्ध पटा ।
दबी हुई बिल्ली ही चाहे,
ले चूहों से कान कटा ।

१-काला कानून
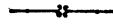
रोलट बिल
बिन्दु ५

अभि स्वस्थ भी हुए न गांधी, दूर हुआ दौर्बल्य न था,
'रोलट-बिल' दृग-सम्मुख आया जले हुए पर नमक यथा।
थी स्वतन्त्रा तो पहिले ही सुदृढ़ शृङ्खलाबद्ध, विकल,
स्वाभिमान के परिपीड़न को रचा गया यह नूतन छल।

'पुलिस-हस्तगत शासन सत्ता' जिसके दूर-आशय अभिहित,
रहे उसी के स्वेच्छाचारों के चरणों पर न्याय नमित।
उसके सत्यासत्य कथन में निर्विवाद प्रामाणिकता,
प्रातः के नीहार-कणों को बाध्य न्याय कहने सिक्ता।

सीमातीत शक्ति शोणित से आविल हाथों मे रक्षित,
भारत का उत्पीड़न ही था आंग्ल-राज्य को अभिलाक्षित।
कृतज्ञता पर कृतघ्न के 'काले-विधान' की सृष्टि हुई,
रोटी के प्रार्थी क्षुधितों पर पाषाणों की वृष्टि हुई।

हुआ सुनिश्चय "नूतन दुख की निशा समाश्रय पाय नहीं,
यह प्रस्तावित प्रत्याघाती बिल-विधान बन जाय नहीं"।
किंतु न समझा शैल कि-निर्झर कर सकता सौ--सौ टुकड़े,
दावानल-बल को बस होते बादल के दो--चार घड़े।

सत्याग्रह की समर--समिति का सुदृढ़ सङ्गठन हुआ तभी,
प्रखर शौर्य ने सिंधु--हृदय के अतुल ज्वार को छुआ तभी।
हुआ बम्बई नगर केन्द्र, थे गांधी नाविक निर्वाचित,
वीरों के अतिरिक्त गहेगा—कौन मार्ग जो शूल—खचित!

समर सुनिश्चित हुआ किन्तु था शेष अभी रण-प्रयाण-पथ,
"किस मुहुर्त में बजे दुन्दुभी किस प्रकार हो मङ्गल अथ" ?
एक चमत्कृति हुई स्वप्न में-दृश्य महात्मा ने देखा,
सत्याग्रह के मान चित्र की महद्रम्य स्वर्णिम रेखा।

"अष्ट प्रहर उपवास, स्थगित सब कार्य, पूर्ण हड़ताल रहे,
वैर-रहित प्रतिरोध, शत्रु पर भी शुचि स्नेह-प्रवाह बहे।
अतुल शौर्य मन, निरारक्तदृग, क्षिप्र-धार, पर शीतल जल,
सविनय आज्ञा भङ्ग करे-पर अन्तर, चिर पीयूष-अमल।

प्रति--विरोध के पावन पथ पर निर्मल हृदय सरोष न हो।
निशि--तमारि के शुभ्र अङ्क में वैर भाव के दोष न हों।
सहज विदूरण करता है मल सुरसरिता का विमल सलिल,
बिना कुपित हो, अंधकार--हर दीपक जलता है झिल मिल।

बिना रूष्टि के, दुष्ट कुष्ट का तप औषधि-उपचार करो,
अस्त्र-शस्त्र के मत्स्य ग्राह से पूरित सागर में उतरो।"
स्वप्न न था यह, निश्छल उर की सत्य-ज्योति की किरण प्रखर,
धर्म-मार्ग--आरूढ़ पथिक पर द्रवित हुए थे करुणाकर।

मिला पपीहे को स्वाती जल,
पीड़ित को विश्वास नया।
तमस्कुण्ठिता कलिकावलि को,
रश्म्यतिरिक्त अभिप्सित क्या ?

मुक्ति-पथ, यदि शूर-करतल-शीश,
सत्पथिक को पंथ देता ईश।
हो मनुज का सत्य पर यदि प्यार,
अरुण रथ का कौन तमस अवार ?

सप्तमोर्मि

सविनय आज्ञा भङ्ग

बिन्दु १
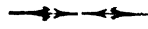
इधर गुञ्जित था गगन 'जय-हिन्द माँ' का नाद,
पुङ्करित था इधर शासन-सर्प का उन्माद ।
हुई छः अप्रैल निश्चित सत्समर के हेतु,
"प्राण जाल, सत्य की पर झुक न पाए केतु ।"

सौम्य मुद्रा में महात्मा दीप्त ज्यों पूर्णेन्दु—
देख आन्दोलित हुआ था राष्ट्र-यौवन सिन्धु ।
"सह सकेंगे निमिष भर भी हम न सैनिक राज,
दण्ड ले, आए भले ही सामने यमराज ।"

स्थगित थे सब कार्य, विनिमय के सभी व्यवहार,
शांतिमय प्रतिरोध के थे प्रदर्शन अविकार ।
बन्द था वाणिज्य, यन्त्रालय सभी थे बन्द,
मात्र मारूत, सिन्धु, सरिता-ऊर्मियाँ सस्पन्द ।

और स्पन्दित आर्य-भू के चिर प्रपीड़ित प्राण,
ज्येष्ठ रवि को भी न था इस शौर्य का अनुमान ।
था किसी जन के न मन में जातिगत अभिमान,
'हिन्दवासी' जाति सबकी 'मुक्ति' पुराण, कुरान ।

राष्ट्र का प्रति नगर, पुर, घर, महल और कुटीर,
मुक्ति के हित हो रहा था अमित विफल, अधीर।
अवज्ञा के हेतु, आज्ञा-भङ्ग था अनिवार्य,
हो रहे थे राज्य के सब नियम-वर्जित कार्य।

लगा बनने लवण भी सब तोड़ कर प्रतिबन्ध,
लगीं बिकने पुस्तिकाएँ वर्जिता निर्बन्ध।
अदम, निर-अवरोध जनता का अतुल उत्साह,
क्षिप्र सावन की नदी का था अदम्य प्रवाह।

जिधर जाए दृष्टि, दृग्गत उधर ही नर मुण्ड,
ऊर्ध्व उत्थित पाणि मानों निर वधिक गज-शुण्ड।
बम्बइ गुजरात दिल्ली पञ्चनद बङ्गाल—,
देख आन्दोलित, हुआ था राज्य-मद विकराल।

राष्ट्र-व्यापी हो गया आरम्भ नर—संहार,
गोलियों से भी अधिक थे क्रुद्ध दृग—अङ्गार।
शस्त्र निष्ठुर शत्रुओं के हुए शोणित स्नात,
हिन्दियों के वक्ष पर थे अश्व-पद आघात।

सह रहे थे अहिंसक जन शांति से सब मार,
है अहिंसक सैन्य को कब दुर्विनय अधिकार।
प्राण देना पुण्य, रिपु को पीठ देना पाप,
शूरता के कोष में है शब्द कब "अनुताप"!

सत्य की दुर्भेद्यता को चुभ न पाते शल्य,
शत्रुओं का शस्त्र से प्रतिकार है दौर्बल्य।
है अहिंसा शिला, हिंसा लहर का आघात,
कब शिला ने लहरियों पर किया प्रत्याघात।

पाशविक दुर्दम दमन का था न पारावार,
किन्तु दुष्कथनीय था पञ्जाब का संहार ।
व्याप्त थी आभूमि नभ तक गोलियों की आग,
बन रहा था हव्य वह जालियान वाला बाग ।

हिंस्र ओ डायर[1] बना था क्रूरतम जल्लाद,
दे रही थी आंग्ल-सत्ता जिसे आशिवाद ।
थी जिसे भी राष्ट्र की स्वाधीनता आराध्य—
पेट के बल रेंगने को था हुआ वह बाध्य ।

छलनियों-से जर्जरित थे अस्त्र-आहत वक्ष,
और ओडायर विमोदित मनुज-मृगया-दक्ष ।
पट रही थी भूमि शव से दिशाएँ आरक्त,
रक्त-सरिता कर रही थी पाशविकता व्यक्त ।

तीक्ष्ण भाले बेधते थे कुसुम-कोमल-बाल,
अगिन जन की हण्टरों से खिंच रही थी खाल ।
लुट रही थी राज--पथ पर नारियों की लाज,
छोड़ बैठा धैर्य, संयम, नियम सब यमराज ।

निर्वसन हो नगर में थीं पर्यटन को बाध्य,
उधर पैशाचिक प्रणय के बज रहे थे वाद्य ।
स्तन कटे विकलाङ्ग थीं, थी रुधिर, पय-धार,
मुक्ति की सत्साधना का था मिला उपहार ।

था पवन के कम्प में भी दहकता दुस्त्रास,
आर्य-वसुधा के धवल इतिहास का उपहास ।
शौर्य दिल्ली का नहीं ये बता सकते छन्द,
जहाँ नेता खान अजमल और श्रद्धानन्द ।

[1]-अंग्रेज सेनापति

जो विमल दीपक-शिखा-से मार्ग-दर्शन-दक्ष,
हिन्दु-मुस्लिम ऐक्य की प्रतिमूर्ति दो प्रत्यक्ष।
कह रहा हिन्दुत्व था "हो दासता का अन्त,"
खोजता था ऐक्य में इस्लाम नव्य वसन्त।

था महात्मा को सदाग्रहपूर्ण त्वरिता ध्यान,
"शीघ्र पावन कीजिए भगवान आ, यह स्थान।"
थी बिछी पञ्जाब के भी दग्ध उर की आग,
"कौन बदली आयगी ले स्नेहमय अनुराग ?"

कर लिया आकृष्ट, इस ध्वनि ने दया का ध्यान,
है सहज स्वभाव प्रभु का आर्तजन का त्राण।
बम्बई से चल पड़ी झट धड़धड़ाती रेल,
सह्य सत्ता को न था पर मेघ-चातक मेल।

लग गया पञ्जाब जाने पर त्वरित प्रतिबन्ध,
राज्य-आज्ञा-भङ्ग को थे बाध्य करुणाकन्द।
जा रहा था जब कि दिल्ली प्रेम का परिवार,
लिया मथुरा-निकट, गाड़ी से तभी उतार।

स्नेह की श्रुति में पड़े वे शब्द थे दुश्श्राव्य,
"शांति सङ्कटग्रस्त होना है सहज सम्भाव्य।"
जलद में थी कल्पना यह अनल की दुस्साध्य,
गरल का आरोप सहने था सुधाकर बाध्य।

"सर्व संकट-मूल है साम्राज्य का दुर्दर्प,
भङ्ग करता शांति को जो शम्भु की कन्दर्प।
शांति की संस्थापना ही परम मेरा लक्ष्य,
शांत जनता बन रही पर राज्य-मद भी भक्ष्य।"

किन्तु मद की बधिर श्रुति को छू सका कब ज्ञान ?
भ्रांत-धी कब जान पाया सत्य-बल-परिमाण ।
ले उन्हें आयी पुलिस फिर बम्बई के तीर,
उधर थी पञ्जाब की आत्मा अमित अधीर ।

प्रखरता थी कमल-उर में रवि-विरह की पीर,
मध्य थी जल के, तृषित के दमन की प्राचीर ।
इधर सत्ता का निरङ्कुश देख कर उत्पात,
अहिंसोचित धैर्य रख पाया नहीं गुजरात ।

क्षुब्ध जन ने विपक्षी की क्रोध के शर तान,
ले लिए उत्तेजना में सैन्य के कुछ प्राण ।
देख स्थिति को शांतिमय-संग्राम के प्रतिकूल,
कर दिया रण स्थगित, सेनप ने समझ निज भूल ।

'हिमालय-सी भूल' इस पर हुआ पश्चाताप,
किस मनुज को भूल का होता नहीं अनुताप ?
शीघ्र प्रायश्चित किया, कर एक दिन उपवास,
किया अग्नि स्नान से शुचि सत्य का इतिहास ।

अहिंसक सेनप न सह सकता कभी उन्माद,
अहिंसा में क्षम्य हिंसामय नहीं प्रतिवाद ।
देख जनता को विनय के मार्ग से उद्भ्रान्त,
सिन्धु की उत्तालता को कर दिया झट शान्त ।

सत्य-सैनिक, शौर्य से स्पन्दित हृदय प्रचण्ड,
स्तब्ध-से थे, शान्त बरबस फड़कते भुज दण्ड ।
तृप्त होने भी न पाया था तरुण-उत्साह,
बरसने पाये न थे नभ में चढ़े जलवाह ।

सैन्यधिप[1] का युद्ध के था स्थगन का आदेश,
शान्त होकर बैठना ही शौर्य को था शेष ।
बनाने को शांति के वातावरण, अनुकूल—
हो न हिंसामय, अहिंसा--समर में फिर भूल ।

'विनयपूर्वक अवज्ञा' का सिखाने सिद्धान्त,
हो सके शिक्षण कि जिससे सैन्य को निर्भ्रान्त ।
पत्र 'नव जीवन' हुआ तत्काल आविर्भूत,
शांति, संयम, स्नेह--निश्छल, सत्--अहिंसा--दूत ।

आंग्ल भाषा में हुआ
'यंग इण्डिया' अवतीर्ण ।
विश्व में करने विमल
सद्भावना विस्तीर्ण ।

पञ्जाब में

बिन्दु ?

थे उधर पञ्जाब के दृग सानुनय अनिमेष,
द्रौपदी हित, कृष्ण कर सकते न विलम्ब विशेष ।
देख सम्मुख नव्य आशा की मनोहर रेख,
कोटि पलकें कर उठीं स्नेहाश्रु से अभिषेक ।

अश्रुओं में चिकित्सक ने देख ली वह पीर,
शल्य बन कर जो रही थी हृदय तल को चीर ।
सांत्वना की महौषधि से धो दिया झट घाव,
दुखित का दुख--शमन, सन्तों का सहज स्वभाव ।

१—महात्माजी

थे सभी पञ्जाब के जन-पथ-प्रदर्शक वीर,
बद्ध, बन्दी ज्यों कि घन में सिन्धु अतुल अधीर।
मदनमोहन, आर्य श्रद्धानन्द, मोतीलाल,
थे रहे उत्पीड़ितों के व्यथित हृदय सँभाल।

प्रथम कर के राज्य ने अति पाशविक अविवेक,
की नियोजित जाँच को 'हण्टर-कमेटी' एक।
मार कर पुचकारने का उपक्रम था बाह्य,
गाय को पर सिंह का विश्वास कब संग्राह्य।

प्रजा ने मानी नहीं वह कमेटी विश्वस्त,
स्वयं उत्पीड़क करेगा क्या किसे आश्वस्त?
थी नियोजित समिति, गांधी स्वयं जिसके सभ्य,
प्रपीड़ित जन को कि जिससे न्याय था संलभ्य।

चित्तरञ्जनदास, जयकर वीर मोतीलाल,
और श्री अब्बास तैयब विमल हृदय विशाल।
निरिक्षण को पीड़िता पञ्जाब भू की पीर,
बढ़ चले, पाया सिसकता सा प्रभात समीर।

जहाँ ऋक् की ऋचाओं का हुआ था निर्माण,
जहाँ सबसे प्रथम गूँजा साम का उद्गान।
जिस धरा पर कलकलित था सिन्धु-रावी-नीर;
जहाँ सतलज, चिनाब झेलम के मनोहर तीर-

थी वहीं पर आज मानव की करुण चत्कार,
थी वहीं पर आज शोणित की विरोदित धार।
आह, मरती-सी लताएँ विगत कलरव वृक्ष,
पञ्चनद में बह रही थी वेदना प्रत्यक्ष।

रक्त-रञ्जित धूलि के प्रत्येक कण का दैन्य–
कह रहा था—"यहाँ ताण्डव कर गया पशु-सैन्य" ।
कोटि दृग में, एक में भी था न सुस्मित हास,
कोटि उर में बह रहा था मात्र उष्णोच्छ्वास ।

कह रहा था वह दलित नारीत्व का उपहास,
नर पिशाचों के पतन का घृणिततम इतिहास ।
दे रहे थे साक्षियाँ वे निर्-वधिक नर-मुण्ड–
"यहीं शोणित-फाग खेले थे असुर उद्दण्ड" ।

देख पाते दृग न, आहों का अनल प्रचण्ड,
श्रवण होते जा रहे थे रुदन सुन शत-खण्ड ।
जब निरिक्षण का कि था प्रकटित हुआ परिणाम,
सद्ध वाणी कह रही थी दुख से 'हा, राम" ।

दानवी दुर्वञ्चना पर रो न पड़ता कौन ?
गल न जाता जो व्यथा से वज्र उर था कौन ?
था प्रमाणित स्पष्ट नर संहारकों का पाप,
कौन दे पर स्वयम् को ही दण्ड का उत्ताप ?

पय-धुले-से मुक्त थे नर-मेघ-होता व्याध,
शासितों पर शासकों का पाप कब अपराध ?
क्रूर वधिकों के श्रवण हैं सुन सके कब 'हाय',
रक्त मे रङ्गे हुए कर कर सके कब न्याय ?

बद्ध थे, जिनने किया था पाप का प्रतिकार,
मुक्त थे जिनने किये निस्सीम अत्याचार ।
प्रपीड़ित की आह से थे प्रपीड़क सन्तुष्ट,
भेद 'अपने राज्य' का 'पर राज्य' का था स्पष्ट ।

असहयोग

बिन्दु ३

हँस रहा पञ्जाब के था भाग्य पर दुर्भाग,
थी नहीं शीतल हुई नर-मेध की वह आग,—
मृग सदृश जन-जन प्रकम्पित वधिक थे स्वच्छन्द,
थे करुण-दृग-अश्रुओं पर भी लगे प्रतिबन्द ।

थी वधिक-दल-मुक्ति जन-जन-अग्नि-आहुति रूप,
न्याय की दुर्व्यञ्जना थी हुई घृत अनुरूप ।
देख दुस्सम्भाव्य 'रोलट एक्ट' का व्यवहार,
राज्य ने घोषित किये तब 'माण्टफार्ड' सुधार ।

किन्तु वे भी स्वर्ण-घट थे गरल से परिपूर्ण,
हो रही थी हिंदियों की भावनाएँ चूर्ण ।
महात्माजी देख पाए थे न उसमें छद्म,
देख पाए थे न उज्ज्वल (!) का कलुष प्रति पद्म ।

पर तिलक, श्री चित्तरञ्जन आदि न थे अभिज्ञ,
थे सुधारों (!) में निहित दुर्भावना से भिज्ञ ।
ले सुधारों के विषय को हो गये दो पक्ष,
भाज्य-दृग पर रह न पाए अधिक समय विपक्ष ।

अपरोक्ष में था वाद का प्रतिवाद का प्राचुर्य,
किन्तु इस मतभेद में भी था विमल माधुर्य ।
अली बाँधव की 'खिलाफत' का उधर प्राबल्य——
चाहता पञ्जाब था नर-मेध का भी मूल्य ।

अन्त में निश्चित हुआ "ले सत्य का आधार—
हो विगत सहयोग, संयत शांतिमय प्रतिकार
हुआ जब निर्णीत रण का दिवस प्रथम अगस्त,
हा, हुआ दुर्भाग्य से था तिलक-दिनमणि अस्त ।

हा, तिलक से शून्य गांधी का हुआ शुचि भाल,
"छिन गयी है, आज मेरी वज्र-सी दृढ़ ढाल" ।
थी समुत्सुक सैन्य, सुनने उधर शङ्खोद्घोष—
अनल के तारूण्य पर था गिरा तुषार सरोष ।

पर निराशा-निशा में था जो कि उज्ज्वल रेख—
श्री तिलक के स्थान, गांधी का अमल अभिषेक
सो गये जब अंशुमाली अंशु-राशि सँवार,
विश्व के आलोक का शशि-शीश पर था भार ।

हुई कलकत्ता नगर में सम्मिलित कांग्रेस,
चाहती थी किरण-कज्जल-गिरि-गुहा विनिवेश ।
उपस्थित प्रतिनिधि प्रजा के हृदय के अभिराम,
सुशोभित अध्यक्ष पद पर लाजपत गुण-ग्राम ।

जब कि सोची जा रही थी दमन-क्षय की मुक्ति,—
विजय राघव ने कही तब एक सुन्दर सूक्ति ।
"विवशता-तरु, दमन-पल्लव दासता ही मूल,
पात के विनिपात को हो मूल ही निर्मूल ।"

बुद्धिमत्तापूर्ण सम्मति हो गयी स्वीकार,
योग्य के सम्मान को गांधी सहज समुदार ।
हुआ सविनय-अवज्ञा का कार्य-क्रम स्वीकार,
हो सके जिससे कि युग का दूर दुख दुर्वार ।

"दे न शासन-कार्य में कोई तनिक सहयोग,
छोड़ दे सब वृत्तियों को कर्मचारी लोग।
हिन्दियों को, राज्य का प्रति कार्य-हो-प्रति कार्य,
विनयपूर्वक शासनाज्ञा भङ्ग है अनिवार्य।

राज्य द्वारा पत्र पदवी प्रतिष्ठा दें त्याग,
न्यायगृह, धारा-सभा में भी नहीं लें भाग।
किया जिसने स्वर्ग-सी इस मातृ-भू को नर्क,
बहिष्कृत हो राज्य का उस पूर्णतः सम्पर्क।"

राष्ट्र जन-मन-सिन्धु में थी यह नवीन हिलोर,
थीं उधर नव चेतनाएँ दृग उठें जिस ओर।
ये धवल दीपक-शिखाएँ शत्रु को थीं तीर,
हिल रही थी आंग्ल-सत्ता की सुदृढ़ प्राचीर।

चतुर्दिक गतियुक्त चाक्रित था दमन का चक्र,
दैत्य--पशुबल से प्रकम्पित शांत जन--बल-शक्र।
था बना सम्पूर्ण भारतवर्ष कारावास,
निगल जाना चाहता था इन्दु को खग्रास।

मनुज-शोणित पी न थकते,
थे दनुज के शस्त्र।
किन्तु ज्योतिस्तम्भ था,
दधीचि का ब्रह्मास्त्र।
× × × ×
शुचि अहिंसक क्रांति,
ज्योति-सत्पथ, शांति।
शौर्य——प्राण--——विरक्ति,
शक्ति— माँ—पद—भक्ति।

*

अष्टमोर्मि

महा सभा का कायान्तर

बिन्दु १
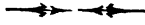
हुआ नागपुर अधिवेशन में महासभा का कायान्तर नव,
नव विधान, नव रचना, नूतन प्रवृत्तियों का शुभ प्रादुर्भव।
विजयराघवाचार्य सुनायक शुचि अध्यक्षासन पर शोभित,
जिनके सुन्दर सञ्चालन में विघ्न रहित शुभ कृत सम्पादित।

स्वतन्त्रता के सुखद प्रश्न पर हुआ विरोधाभास उपस्थित,
'पूर्ण मुक्ति' में एक पक्ष था एक—"मुक्ति हो साम्राज्याश्रित।"
मालवीजी, श्री जिन्ना को लक्षित आंग्ल राज्य की छाया,
पूर्ण मुक्ति के इच्छुक जन को उनका अभिमत नहीं सुहाया।

स्वल्प स्नेहमय वादानन्तर 'पूर्ण मुक्ति' प्रस्ताव मान्य था,
साम्राज्यान्तर्गत रहने का किसी हृदय में भी न चाव था।
सम्प्रदायगत जाति—विभेदों का, निर्णीत हुआ उन्मूलन,
"हिन्दू—मुस्लिम ईसाई को सींचें सुखकर स्नेह—सुधा—घन।

मातृ—भाल पर अस्पृश्यता का कज्जल तुल्य कलङ्क नहीं हो,
'श्रेष्ठ—हीन' भावों से कलुषित मानवता का अङ्क नहीं हो।
विमल स्नेह की सुरसरिता में युग—युग के कल्मष धुल जाएँ,
प्रमुद प्रेम की लहरावलियाँ बाहु—पाश फैलाती आएँ।

नवोत्साह भर कर अञ्चल में मलय-पवन के झोके आएँ,
चर्खे की 'गुन-गुन-गुन' ध्वनियाँ हमें स्वावलम्बन सिखलाएँ।"
सविनय आज्ञा—भङ्ग, वेदेशी वस्त्र—बहिष्कृति—आन्दोलन था,
तृषित धरा की प्यास बुझाने नभ में फिर उमड़ा सावन था।

बजी दुन्दुभी नभमण्डल में नव्य चेतनाएँ मुसकायीं,
आंग्ल-राज्य की लोह-शृङ्खलाओं से 'तड़-तड़' ध्वनियाँ आयीं।"
ग्राम, नगर, पुर, यहाँ-वहाँ पर वस्त्र विदेशी धू-धू जलते,
बृहद् राष्ट्र की धवल धूलि के कण-कण पर थे अरुण मचलते।

वैर-रहित पुलकित मृदु पलकें क्रोध रहित कञ्जारुण लोचन,
निर्-हुङ्कार गर्जना घन की धैर्य, शांति सब क्षमता धन।
यह विचित्र था शौर्य कि जिसमें क्रोध नहीं पर रिपु कम्पित था,
प्रलय-सिन्धु होकर भी सीमित मारुत होकर भी स्तम्भित था।

पर सागर की सीमा में भी अगणित वारियान लय होते,
मारुत स्तम्भित हुआ कि जग के जीवों के जीवन क्षय होते।
कभी शिलाओं ने न वारि की घातों का प्रतिरोध किया है,
कभी अहिंसक ने हिंसा का शस्त्रों से न विरोध किया है।

कृष्ण-मन्दिर में

बिन्दु १

महासभा की नव निर्धारित रीति-नीति के पद-चिन्हों पर,
बढ़ा जा रहा था आँधी-सा यौवन, चिर मारुत का सहचर।
जन-जन-मन अनुभूति तरङ्गित "हम स्वतंत्र मारुत निर्बन्धन"
कौन शृङ्खला रोक सकी है पूनम के सागर का स्पन्दन?

राज्य एक योजन सुरसा-मुख शत योजन तन पवन-पुत्र थे,
विजय-माल के मनके सब जन गांधी जिसके स्नेह-सूत्र थे।
उधर तिरस्कृत, अहङ्कार था ठोकर खाए विषधर का-सा,
अस्त्र-शस्त्र की जिव्हाओं में रक्त पान की लिए पिपासा।

इधर मुक्ति की उत्सुकता की चपल बिजलियाँ चमक रही थीं,
सत्याग्रहियों की पद-रज में राज्याज्ञाएँ लुढ़क रहीं थीं।
बहिष्कार में देख रहा था शासन-मद निज को अंत्यज-सा,
देख रहा था लुटते सम्मुख कीर्ति-गोपिकाएँ अर्जुन-सा।

सार्वभौम सत्ता के प्रतिनिधि लन्दन के युवराज पधारे,
आहुति पाकर दहक उठे थे कोटि-कोटि शीतल अङ्गारे।
कण-कण बोला-"ओ, शासन के निर्-अङ्कुश अभिशाप! न आओ"
काले झण्डों ने फहरा कर कहा कि-"वापस जाओ! जाओ!

प्रभो! आपके शुभागमन से भारत अब कृतकृत्य न होगा,
इन्दूत्सुक चकोर से, दुख के घन का अब आतिथ्य न होगा।"
इधर बहिष्कृति सविनय, अविनय पूर्ण दमन की उधर कुकृतियाँ,
शत्रु-कोप के अनल-कुण्ड को अर्पित लक्षावधि आहुतियाँ।

कारागृह की प्राचीरों ने तरुणाई के चरण चूम कर-
वासुदेव के अभिनन्दन का युग में फिर पाया वाञ्छित वर।
नहीं एक भी कारागृह था जिसे न यह वरदान मिला हो,
नहीं एक रज-कण था, था जिसको नहीं रक्त का दान मिला हो।

सत्याग्रह के रण-विधान में 'प्रतिपक्षी पर घात' मना था,
शांति-सैन्य का समरारोहण नहीं शत्रु के रक्त सना था।
उसने सीखा 'रक्तदान' ही प्राणों का प्रतिदान न लेना,
चन्दन पर यदि फणि फुङ्कारे वह न छोड़ता सौरभ देना।

वह तो शीतल-जल की सरिता जिसका अमर प्रवाह न रुकता,
बाधाओं के पाषाणों के सम्मुख किसका गर्व न झुकता?
इधर बारडोली की वसुधा पानीपत बनने वाली थी,
थर्मोपोली, हल्दीघाटी को फिर से जनने वाली थी।

उधर ग्राम 'चौरी-चोरा' में तनिक धैर्य की धरती डोली,
सत्याग्रहियों के हाथों ने शत्रु–रक्त से खेली होली।
जन–जन–वध–तन्मय ताण्डव पर तलवारों ने ताल लगादी,
सत्पथ–अवरोधक–शासन के काट दिये सैनिक उन्मादी।

किन्तु अहिंसक सेनप को कब सह्य वञ्चना निज विधान की?
वीरों को रहती है चिन्ता प्राणों से भी अधिक आन की,
देख अहिंसक अनुशासन के योग्य न अपने सैनिक जन को,–
सह न सके थे जो कि दमन के सम्मुख संयम-अनल-तपन को।

ईश्वरीय आदेश समझ कर रोक दिया सत्याग्रह का रण,
बैठ गये गाण्डीव छोड़ ज्यों कुरुक्षेत्र में धनुधर अर्जुन।
सेनानी का, जब कि युद्ध का प्रवाह द्रुत गति से चलता हो–
शस्त्र–पात क्या शोभनीय जब शत्रु–शक्ति–दीपक ढलता हो।

रणस्थगन की महद् भूल पर हुई तीव्रतर समालोचना,
किन्तु सहन–बल था गांधी में गरल–पान का शिव में जितना।
उनकी श्रुतियाँ सुनती केवल अन्तर्वाणी की पुकार को,
अहरह तत्पर थे वरने को बाह्य तिरस्कृति–पुरस्कार को।

समर स्थगित था किन्तु लेखनी करती थी जयश्री का तर्पण,
मुक्त भावना के प्रतिनिधि थे 'यङ्ग इण्डिया' औ 'नव जीवन'।
सह्य न थी शासन की श्रुति को उनकी वाणी मञ्जुभाषिणी,
सह्य नहीं थी–भारत माँ के कृश तन में नव रक्त वाहिनी।

किया तभी सत्वर शुभ स्वागत
कारागृह ने मुक्त हृदय से।
धन्य हुआ था जिसका कण-कण
विश्व प्रेम[1] के शुभ परिचय से।

१–महात्माजी

अनेक रूप रुपाय

बिन्दु ३

दिनकर की द्युतिमयी रश्मियाँ प्रमुदित कर कलिका का मनही—
नहीं तुष्ट होतीं ज्योतित कर केवल प्राची का आँगन ही,
वे तो जगती के अणु-अणु में मञ्जु मोद भरने आतीं हैं,
उनहीं से भिक्षा में पायी विदिशाएँ स्मिति बरसातीं है।

तितली के सुन्दर पङ्खों में इन्द्र धनुष-सा रङ्ग उन्हीं का,
अंधकार के वक्षस्थल में प्रखर तीक्ष्ण शर-व्यङ्ग उन्हीं का।
उनही से तो प्रतिभासित हैं सकल सृष्टि की सुन्दर कृतियाँ,
उनही से तन-ऊष्ण-रक्त में गति शीला साँसों की गतियाँ।

सागर, अम्बर में घन बन कर पाता है आतिथ्य उन्हीं का,
जग की षड्ऋतुओं का राजा यह बसन्त भी भृत्य उन्हीं का।
वे ही रस भरतीं हैं सुफलों में सीपी के कङ्कर में आभा,
उनके बिना न शोभित होती नलिनीश्वर की शीतल प्रतिभा।

अणु-अणु पर नित नर्तन करतीं वे किरणावलियाँ मङ्गलमय—
'संत-समुद्भव' के कारण का देती रहतीं हैं जो परिचय।
जहाँ महात्माजी करते थे राजनीति का शुभ सञ्चालन—
वहाँ चतुर्दिक समृद्धि का भी, मानव की, था लक्ष्य समर्जन।

सत्य-अहिंसा-ब्रह्मचर्य से मन-बल परिवर्धित करते थे,
स्नेह-सूत्र में विश्व-बंधुता-आदि सुगुण सूत्रित करते थे।
बन्धु--भाव के प्रेम-पात्र से जो कि सुधा थी ढलती जाती——
नहीं मनुज ही; प्राणीमात्र से आत्म तुल्य ममता सिखलाती।

ग्रामोद्योगों, चर्खा--संघों द्वारा स्वावलम्ब सिखलाया,
नगरों के कुण्ठित प्रवाह को ग्राम-सिन्धु का पथ दिखलाया।
"हिन्दू--मुस्लिम, ईसाई में मानवता न विभक्त रहे अब,
अस्पृश्यता की खाई क्यों अब एक पिता के सुत हैं हम सब?"

पारतंत्र्य के रुद्ध पंथ पर उधर मुक्ति-दीपक जलते थे—
सत्य-साधना के, संयम के इधर विविध प्रयोग चलते थे।
"नहीं अशन का लक्ष्य स्वादमय खाद्यों से रसना का तोषण,-
मात्र लक्ष्य है, दीर्घ आयु के लिए हमारे तन का पोषण।"

इस प्रकार वे विविधादर्शों के तपमय प्रयोग शाला थे,
सर्वाङ्गीण समुन्नतियों की मुक्तावलियों की माला थे।
समर-क्षेत्र में थे वे मुरहर मुक्ति-पंथ—'रामानुज'—शङ्कर,
अर्थ शास्त्र का पाठ सिखाता रहता चर्खे का 'गुन-गुन' स्वर।

ईसा और बुद्ध दो देही—एक देह गांधी बन आये,
उनकी स्नेहमयी वाणी को जिनके निश्छल शब्द सुहाये।
स्वर्ण-अनलवत् दमक उठी फिर यहाँ भीष्म की अचल प्रतिज्ञा,
हरिश्चन्द्र के शुभ्र सत्य को आज मिली थी 'गांधी' संज्ञा।

सुरसरिता की पवित्रता ने गांधी का मानव तन पाया,
शरद निशा के नभ का गौरव आज भूमि पर था मुसकाया।
अस्पृश्यता, दारिद्र्य—निवारण, सम्प्रदाय--विद्वेश--विदूरण,
दिनकर का था लक्ष्य सुनिश्चित पारतन्त्र्य का तमस्—विसर्जन।

सत्य, अहिंसा, दया, शौर्यमय, प्रभापूर्ण अगणित स्वरूप थे,
कोटि—कोटि उत्पीड़ित जन के हृदयों के निर्मुकुट भूप थे।
चिर कर्मण्य कि जिसके सम्मुख क्रियाशीलता भी थकती थी,
पद की गतियों की स्पर्धा में मारुत की गति भी रुकती थी।

*

एकता का देवदूत

बिन्दु ४

अत्यधिक रुग्ण हो जाने से गांधी कारा से मुक्त हुए,
स्वर्णिम प्रतिभाओं के सह रवि निज पथ पर पुनः प्रयुक्त हुए।
थी पञ्च तत्व की देह न वह, प्रतिमा साकार परिश्रम की,
अहरह ज्योतित थी दीप--शिखा तप, सत्य, अहिंसा संयम की।

थी भूल गयी विधना जिसके, लिखना ललाट 'विश्राम' शब्द,
बस "काम! काम!" लिखते लिखते हो गयी स्यात लेखनी स्तब्ध।
प्रारब्ध-पुस्तिका पूर्ण हुई अथवा मसि-पात्र हुआ खाली?
या था विराम से कहीं अधिक अविराम काम गौरवशाली?

विश्राम न ले आए पूरा नभ पर विषाद के घन देखे,
'हिन्दू--मुस्लिम' का कलह जगा शोणित प्यासे जन जन देखे।
मन्दिर मस्जिद पर टूट पड़े, मस्जिदें मन्दिरों पर टूटीं,
अल्लाह--ईश में द्वंद्व मचा, धर्मों पर तलवारें छूटीं।

'अल्लाहो अकबर' मंत्रों सह उस ओर अनेकों गाय कटीं,
'बजरङ्गबली की जय' ध्वनि पर इस ओर शवों से भूमि पटी।
पर संत, कि जो मानव केवल प्रेमेतर जिसका धर्म नहीं,
सह सकते उसके दृग-पङ्कज ये हिंसामय दुष्कर्म कहीं?

जूहूतट[1] ऊर्मिल सागर का आल्हादित वीचि-विलास छोड़,
झट कलह--अनल के उपशम को दिल्ली के पथ पर पड़े दौड़।
था पाप किया धर्मान्धों ने कर बन्धु-बन्धु का रक्त-पान,
प्रायश्चित की बलिवेदी पर श्री गांधीजी के चढ़े प्राण।

१--बम्बई का एक समुद्रतट

इक्कीस दिवस उपवास हुआ था तपा रोहिणी तप्त अनल,
ग्रीष्म की कठिन तपस्या पर आता पावस का हृदय पिघल।
उन वैमनस्य की लपटों में झट हुए एकता सम्मेलन,
गत–स्नेह, शुष्क सरिताओं में था प्रवहमान फिर नव जीवन।

था 'बेल गाँव' में महा सभा का, हुआ नियोजित सम्मेलन,
गांधी के पद–चिन्हों पर थे भावी के आशा भरे नयन।
जन–जन ने उर के आसन पर शुचि श्रद्धा से अभिषेक किया,
था प्यार दिया मधुमय अथवा निज परित्राण का भार दिया।

सम्मेलन में समुपस्थित थे सम्पूर्ण राष्ट्र क नीति–विज्ञ,
जो पारतंत्र्य, दारिद्रय आदि पीड़ाओं से थे पूर्ण भिज्ञ।
था सर्वाङ्गीण समुन्नति का कार्यक्रम स्वीकृत निर्विरोध,
तम से प्रकाश में आने का किसको पथ देता है न मोद!

दारिद्र्य निवारण की दिशि में चर्खे को महद् महत्व मिला,
हरिजन, हिन्दू, मुस्लिम सब पर निर्द्वंश प्रेम का घन पिघला।
जन–जन था निकल पड़ा, उन्नति अवरोधक शैल कुचलने को,
रवि–किरणावलियाँ बिखरीं ज्यों दिशि–दिशि में तमः निगलने को।

सम्पति–वृद्धि, शिक्षा–प्रसार समतामय प्रेम प्रकर्षण को,
थी सजग राष्ट्र की तरुणाई स्वातंत्र्य लक्ष्य सम्–अर्जन को।
था वह 'स्वराज्य का जन्म सिद्ध अधिकार' पुनः नभ में गुञ्जित,
भारत के जन–जन, कण-कण में, श्री लोकमान्य थे अनुरञ्जित।

गांधी की वाणी में उनकी हुङ्कार शांत उद्घोष बनी,
स्वातंत्र्य-दीप की धवल शिखा थी कोप-धूम्र–निर्दोष बनी।
उत्ताल सिंधु के यौवन को मानो मानस की लहर छुई,
सुस्मित सुमनों वाली गुलाब प्रतिहिंसा–कण्टक रहित हुई।

कलकत्ता महा सभा

बिन्दु ५

भारत की क्षुब्ध तरुणता थी सीमित सत्संयम के तट में,
सुरसरि की शत-शत धाराएँ बन्दी हों ज्यों विधि के घट में।
थे तापस-गांधी भागीरथ विधि-घट बाहर गङ्गा आयीं,
कैलाश-शिखर के आस पास कल-कल कल-कल ध्वनियाँ छायीं।

था भारत जन-जन सगर-सुवन परतंत्र-शृङ्खला में मूर्छित,
हो रहीं श्रवण कर कल-निनाद थीं नव चेतनाएँ जागृत।
हो रहा चतुर्दिक बहिष्कार परदेशी शासन-सत्ता का,
कम्पायमान था डर, रजनी परवशता व्यथा-प्रदत्ता का।

थी नगर-नगर में धधक रही परदेशी वस्त्रों की होली,
बादल-सी बढ़-चढ़ आती थी स्वातन्त्र्य-सैनिकों की टोली।
"है लक्ष्य हमारा स्वतंत्रता वह मिले किसी भी मोल भले",
प्राणों को करतल पर लेकर अगणित वीरों के दल मचले।

हिंसा न किंतु हुङ्कारपूर्ण संदेश आंग्ल को जाने का,
पशुबल का था सङ्कल्प यहाँ शोणित की नदी बहाने का।
था शांत विरोध इधर दर्शित प्रतिरोध प्रखर-अङ्गार उधर,
थीं बनीं मुक्ति की प्रति ध्वनियाँ आग्नेय अस्त्र के 'धड़-धड़' स्वर।

गांधी के निश्छल अधरों की अरुणोदय-सी मुसकान मधुर—
लगती थी दुर्मद सत्ता को ज्यों बिच्छु-दंश दुस्सह्य प्रचुर।
इस ओर तरुणता युद्ध-निरत पावस-घन-तम में चपला-सी,
चर्खे का 'गुन-गुन' मञ्जुल स्वर तलवारें शोणित की प्यासी।

थी गांधी विधान-निर्मित रत थे अध्ययनशील मस्तिष्क उधर,
"किस विधि उपजेगा उर्वी पर समृद्धि, शांति, का नव अङ्कुर।"
थे महा सभा के कलकत्ता अधिवेशन में प्रस्तुत विचार,
"संघर्ष टले यह संहारक मिल जाय किसी विधि संधि--द्वार।

(नहरू श्री मोतीलाल यहाँ शिर कण्टक सङ्कुल मुकुट लिए,
थी जिनके पद पर जन-मन की श्रद्धाएँ सस्तक नमित किए)
नेहरू-रिपोर्ट[1] के अञ्चल में था मन्द मुक्ति-दीपक जलता,
"सम्राट-छत्र की छाया म हो उपनिवेश की स्वतन्त्रता।"

पर राहु--सदृश इस 'छाया' से अत्यन्त क्षुब्ध थी तरुणाई,
था वीर जवाहर का गर्जन "यों पट न सकेगी यह खाई।
पानी के प्यासे पंथी को घन-छाया से कब तोष मिला,
दिपावलियों की किरणों से क्या कभी कहीं अरविंद खिला!"

बस, उपनिवेश-सत्ता केवल था एक पक्ष का लक्ष बना,
था एक पक्ष को आंग्ल-राज्य के अङ्कुश का प्रतिबिम्ब मना।
संघर्षपूर्ण थीं वे घड़ियाँ मृदु शांत प्रौढ़ता यौवन में,
अन्तर था होता है जितना सरसी में, सरिता-जीवन में।

दूरी बढ़ती ही जाती थी शुचि स्नेह, दीप की ज्वाला में,
थे गांधी विमल वर्तिका-से नत प्राय शृङ्खला को थामे।
थे प्रथम पक्ष के पारितोषक नहरू श्री मोतीलाल पिता,
थे इधर जवाहर सुत, जिनकी तरुणाई आतप-सी कुपिता।

सद्यत्नों से गांधीजी के दो पक्षों का गति-रोध मिटा,
बन गया किंतु यह सम्मेलन गोरी सत्ता को प्रलय घटा।
रवि-शशि की प्रेम-मिलन घड़ियाँ अँधियारी मावस सृजती ज्यों,
दो दल की ऐक्य शक्ति रिपु के दल में निर् आशा भरती त्यों।

१-पं० मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में बनी स्वतन्त्रता की योजना।

सागर का गुरु गर्जन लेकर हुङ्कार उठा भू का कण-कण—
"एकाब्द—अवधि में भारत की सत्ता का हो राष्ट्रीयकरण।
अन्यथा छत्र की यह 'छाया' लय होगी किसी प्रलय-घन में,
वह सार्वभौमता की गरिमा पद लुण्ठित होगी रज-कण में।"

श्री लोकमान्य की वाणी का
गौरवमय था यह द्विर्वाचन;
क्षत होने को, परवशता की
कर उठीं लोह-कड़ियाँ 'खन्-खन्'।

× × × ×

हो स्वतन्त्र प्रजातन्त्र,
हो निरस्त राज्य—मन्त्र;
बद्ध को, विमुक्ति छोड़
और कौन वेद मन्त्र?

नवमोर्मि

पूर्ण स्वराज्य और संघर्ष

बिन्दु १

वर्ष भर संघर्ष चलता ही रहा,
दिव्य द्युति से शौर्य जलता ही रहा।
और शासन-दर्प हिंसक जंतु-सा,
दमन के अङ्गार दलता ही रहा।

चतुर्दिक होली विदेशी वस्त्र की, दीप्त थी नव तरुणता निश्शस्त्र की,
अहिंसक उत्क्रांति के मृदु वक्षपर, दहकती ज्वाला दुराग्नेयास्त्र की।
चेतना का दीप जलता ही रहा, शत्रु को यह शौर्य खलता ही रहा,
देश के इस छोर से उस छोर तक, मुक्ति का अभियान चलता ही रहा।

'माण्टफोर्ड-सुधार' आयोजन हुआ, उपेक्षित आर्यत्व पर नवव्रण हुआ,
एक भी हिंदी न था उस समिति में, संधिका तट दूर शत योजन हुआ।
था 'कमिशन-साइमन' जब आरहा, दासता का नव सँदेशा ला रहा,
'लौटजाओ! लौटजाओ! लौटजाओ! लौट, बस!' कोटि काली केतुओंने बढ़कहा

वेदना थी सुधारों की योजना, दुग्ध में विषदान की आयोजना,
हिन्द के बल-माप की यह भूल थी, दिख न पायी थी दहकती चेतना।
क्षुब्ध को साइमन-गिरा पुचकारती, भारतीयात्मा उसे दुत्कारती,
बढ़,उमड़कर शुभ्र (!) स्वगत के लिए, तरुणता लाती घृणा की आरती।

वर्ष की थी अवधि पूरी हो रही, आंग्ल सत्ता दर्प में थी सो रही,
उधर थी लाहोर में सम्राट की छत्र छाया सिसकियाँ ले रो रही।
था जवाहर-सिंह गर्जन कर रहा, भ्रकुटि खरतर तीर तर्जन कर हा,
दिसम्बर उनतीस[१] अंतिम रात में, निविड़ मावस का अँधेरा हर रहा।

१ सन् १९२९ दिसम्बर ३१

थी प्रकम्पित यामिनी तिमिरावृता, मुक्ति के आलोक-पद पर अवनता,
राष्ट्र की प्रतिनिधि सभा[1] का लक्ष्य नव, समुद घोषित हुआ पूर्ण स्वतंत्रता।
जनवरी छब्बीस पावन पर्व था, "दासता निर्मूल हो अब सर्वथा",
तीन रंगी केतुओं की कांति में, भारतीय अतीत आज सगर्व था।

महात्मा थे संधि के सद्‌यत्न में, अहिंसा थी प्रेमपूर्ण प्रयत्न मे,
किंतु शासन-दर्प सूखा काष्ट था, टूट ही जाए भले पर क्यों नमें!
संधि-पत्रोल्लिखि निम्न विचार-कण सैन्य पर हो न्यूनतम व्यय राष्ट्र धन,
अर्ध भू-कर द्रव्य मादक वर्ज हो-असम विनिमय से न हो वैभव-स्खलन।

लवण 'कर' निर्मूल का आग्रह हुआ, सदाग्रह शासन-श्रवण को कब छुआ!
मार्ग पर निज, राज्य-मद से मत्त के, अंधलोचन देख पाते क्या कुआ!
सैन्य बल समझा नहीं, बल शांति का, सोच पाया-मात्र अभिनय क्रांति का,
पकड़ ले जो अग्नि को शतदल समझ, विश्व में उपचार ही क्या भ्रांति का!

छल रहित अनुनय लगी चेतावनी, पाशविक बल की समद आँखें तनी,
थी तिरस्कृत राष्ट्र की सद्भावना, अतः जल की बिन्दुएँ ज्वाला बनीं।
जल उठी सत्शौर्य-दीपक मालिका, थी अहिंसक नीति रण-सी पालिका,
महात्माजी के निपुण नेतृत्व में, बनी भारत भूमि-रज की कालिका।

रणोत्सुक नारी-पुरुष, शिशु-बालिका, कह रहे थे सिंह, मृग, शुक, सारिका-
"राष्ट्र नायक! भूल मत जाना हमें, जब बनाओ सैनिकों की तालिका।"
मार्च दश तक अवधि की दी सूचना, "राज्य मद अब भी न यदि मानव बना
राष्ट्र का कण-कण करेगा शौर्य से, नमक के प्रतिबन्ध की अवहेलना।"

था नहीं सन्तोषप्रद उत्तर मिला, चाहती डिगना न थी दुर्दम शिला,
कहा सेनप[2] ने तभी होकर विवश, "माँग थी-रोटी मिले, पत्थर मिला।
आंग्ल जाति न प्रार्थना से मानती, मूल्य अनुनय का न वह पहचानती,
नष्ट कर निज प्रति सकल सद्भावना, शक्ति-सम्मुख मात्र झुकना जानती।

१—कांग्रेस २—महात्माजी

मार्च द्वादश (सन्) तीस, को अभियान था, सैनिकों के साथ समर प्रयाण था,
'हिंद माँ की जय!' तुमुल उद्घोष में, राष्ट्र के निष्प्राण तन, नवप्राण था।
शुभ्र गांधी टोपियाँ थीं शीश पर, कर तिरंगी केतु जिनसे भीत डर,
मुक्ति का सैनिक न मोही प्राण का, चाहता वह विजय अथवा मृत्यु-वर।

थी प्रतिज्ञा—"मुक्ति—को पाए बिना, मातृ—पदपर विजय बिखराए बिना,
लोटना होगा नहीं साबरमती, मुक्त प्रातः की प्रभा पाए बिना"।
ज्योति अन्तर की कभी सहती न तम, है सदा संघर्ष चेतन का नियम,
'जन्म सिद्ध स्वतंत्रता' के स्वत्व की, घोषणा था मन्त्र वन्देमातरम्।

चल पड़ा अभियान दाण्डी[1] की दशा, वायु में भी एक नव साहस बसा,
सत्य के पद पद्म की मृदु चाप में, लग रहा था राज्य को भूचाल-सा।
चरण गांधी का पड़ा जिस भूमिपर बनगयी वह रुद्र की मानों की 'चर,
डग उठे जिस ओर यौवन जग उठा, युद्ध का उद्घोष था प्रत्येक स्वर।

राज्य-पथ-प्रस्तीर्ण थीं चिनगारियाँ, क्लांत थीं गोराङ्गिनी-रति-रानियाँ,
रुद्र से लगते उन्हें सब पुरुष जन, लग रही थीं नारियाँ रुद्राणियाँ।
सत्य-आग्रह—सैन्य दाण्डी तट जमे, तीर थे जो शत्रु बल के स्राव में,
हिंद का था वह लवण, लावण्य, पर, लगगया वह लवण शासन-घाव में।

अज्ञ ने वह्न अनल को कर में लिया, रुद्र को कन्दर्प ने बंदी किया,
विवशता की गिरी गुहाने खोल पट-तम निगलने रवि-किरण को पथदिया।
दमन-सुरसा शौर्य था मारुत सुवन, शस्त्र, बल, धन, सत्य, बल दुर्दम पवन,
दैत्यता को, पुण्य भारत-भूमि का, प्रलय का संदेश था प्रत्येक कण।

राज्य ने निज पतन को खोदे कुए, राष्ट्र के नेता सभी बंदी हुए,
क्षुब्ध-सागर की तरङ्गों ने उमड़, मुकुट के दर्पोच्च शिखरों को छुए।
राष्ट्र था सम्पूर्ण कारागृह बना, मातृ-उर थी देवकी की वेदना,
महात्माजी को हृदय में स्थान दे, तीर्थवत् था यरवदा पावन बना।

१—समुद्र का एक तट जहाँ नमक बना कर महात्माजी ने राज्याज्ञा भङ्ग की थी।

संधि को सप्रू चले जयकर चले, आय वायसराय से आकर मिले,
महात्माजी से विमल विमर्श, प्रीतिपूर्वक मिले आ, दोनों गले।
नेहरू द्वय भारतीया-कोकिला, यरवदा में मित्र-जन-मण्डल मिला,
हो न पाया किन्तु सम्मेलन सफल, विफल सप्रू शिष्टदल वापस चला।

जनवरी[1] में संधि चर्चा फिर चली, अमावश में इन्दु की आभा मिली,
नव्य आशा की प्रमुग्धा कौमुदी क्षुब्ध मानस-लहरियों पर थी खिली।
थी झुकी सत्ता बहुत कुछ अंश में सर्प के अब विष न था ज्यों दंश में,
शस्त्र बलपर शांत जन-बल की विजय, थी विनय कुछ आज रावण वंश में।
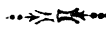
द्वितीय वर्तुल मञ्च परिषद

(राउण्ड टेबल कान्फ्रेन्स)

बिन्दु १

संधि के पश्चात अब रण शांत था, सिंधु का तूफान उतरा हो यथा,
सत्य रण के सैन्य कारा-मुक्त थे थे, लक्ष जन बलिदान जाता कब वृथा।
कराची-कांग्रेस में निर्णय हुए "जायँ पट सम्मात से विग्रह-कुए",
और वर्तुल-मञ्च परिषद के लिए, महात्माजी हिंद के प्रतिनिधि हुए।

पर अभी भी थी समस्याएँ कई मार्ग में भी बिछी बाधाएँ कई,
अतः वायसराय से गम्भीरतम-विवादास्पद विषय पर चर्चा हुई।
संधियों के विविध आश्वासन लिये अहिंसा-अवतार लन्दन चल दिये,
जहाँ परिषद के अनावृत मञ्चपर, हिन्द दृष्टकोण पर भाषण दिये।

'मुक्ति आकांक्षा, विमल, आशा विमल, अन्यथा फिर समर का निश्चय अचल,'
अहिंसक-संग्राम की सब योजना, कह गये सब, सत्य में होता न छल।
किंतु परिषद का नियोजन छद्म था, कुटिल सत्ता का हृदय निश्छल न था,
विफल थे सब, यत्न यादव-इंदु से, कुटिलता दुर्योधनों की चिर प्रथा।

[1] सन् १९३१

मृदुल उर पर विफलता का भार ले, मनुजता पर पाशविक दुत्कार ले,
बम्बई के तीर पर उतरे विमन, सत्य का ही एक दृढ़ आधार ले।
इधर निष्फल संधि चर्चा के वचन, निराशा—परिपूर्ण था वातावरण,
ला रही थी दमन-सत्ता की तपन, हिन्द के आकाश पर नव प्रलय-घन।

निरङ्कुशता कुपित थी सीमांत पर,
वक्र लोचन इधर युक्तप्रांत पर।
दमन के नित नव नियम थे बन रहे,
बन गया था जेल-सा प्रत्येक घर।

प्रचण्ड आन्दोलन

बिन्दु ३

परिस्थितियाँ विषमतर थीं उपस्थित, कार्य-समिति बम्बई में निमन्त्रित,
सम्मिलन को थे जवाहर जा रहे, मार्ग में बन्दी बने मारुत अमित।
महात्माजी के विमल नेतृत्व में राष्ट्र को विश्वास था सफलत्व में,
निपुण नायक के निपुण नेतृत्व में हो किसे सन्देह क्यों निज स्वत्व में?

संधि को फिर लिखा वायसराय को, चाहते थे वे न कठोर उपाय को,
किंतु मिथ्या गर्व ने देखी नहीं, हिंद-माता के हृदय की हाय को।
राष्ट्र के बल को कुचलने के लिए, दमन के सब उपकरण संग्रह किये,
उधर था कांग्रेस ने निर्णय किया, "प्राणपण से लड़ेंगे जब तक जियें।

मृत्यु अथवा विजय में से एक को, वरेंगे तज मृत्यु-भय अविवेक को,
आंग्ल-मस्तक पर लिखी चिर राज्य की मिटा देंगे आज हम विधि-रेखको"।
पूर्ण निस्सहयोग का निश्चय हुआ, भूमि आदिक 'कर' न दें, निर्णय हुआ,
सत्य—आग्रह—सैन्य से यमराज को "छीनलें मेरी न सत्ता, भय हुआ।

देख सकते हैं नहीं साम्राज्य-दृग—आश्रितों के मुक्ति-पथ पर बढ़े डग,
"सिंह का क्या शौर्य अब मुझ में नहीं, विचरते निर्भ्रांत हो जो आज मृग।"
जनवरी बत्तीस[1] के आरम्भ में, दमन का ज्वर चढ़ गया था दम्भ में,
असुर के दृग देख पाते थे नहीं सत्य का नरसिंह था जो सत्य म।

पुनः जैलों के खुले सब द्वार थे, महात्माजी—सङ्ग श्री सरदार[2] थे,
बृद्ध थे सब मार्ग—दर्शक देश के ज्यों उबलते रुद्ध पारावार थे।
थे अहिंसक प्रदर्शन प्रतिकार के, आंग्ल—सत्ता—विदा की मनुहार (!) के,
बिखरते थे किंतु बन चिंगारियाँ अगिन टुकड़े दहकते अङ्गार के।

लाठियों ने शांत जनता पर बरस, कह दिया बरसात के घनको कि "बस",
बन गये दश-शीश के वे बीस कर, मनुजता के दमन को कर शत सहस।
आज गङ्गा में न शीतल नीर था, आज प्रातः का न मलय समीर था,
वायु में भी राष्ट्र की विक्षुब्धता, रक्त से आरक्त गङ्गा नीर था।

गौर सत्ता हिंन्द पर क्रोधित हुई, शस्य से श्यामलधरा लोहित हुई,
दण्ड—पाणि—समक्ष दुर्जय हिंद की वीरता पर वीरता मोहित हुई।
आंग्ल—सेना मूर्ति अत्याचार की, लग रही थी शक्ति सब तलवार की,
किन्तु उन क्षत शिर—धड़ों में थी कथा हिंद की स्वाधीनता पर प्यार की।

नगर-पथ सम्पूर्ण शव-मण्डित हुए, कुचल जिनको हिंस्र दल गर्वित हुए,
स्वत्व पर उत्सर्ग की स्वर्णाभ पर भानु रथ के चक्र भी स्तम्भित हुए।
राष्ट्र का दुख-सहन-बल निस्सीम था, त्याग का उत्साह किसके उर न था!
वज्र को उद्दाम घन के चीरना, दामिनी की तरुणता की चिर प्रथा।

१-सन् १६३२। २ स. वल्लभ भाई पटेल

हरिजन आन्दोलन

बिन्दु ४
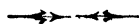
राज्य सत्ता-निरङ्कुशता-दुःखदा, भीत रहती सङ्गठन से है सदा,
नष्ट करने एकता को अतः वह युक्ति लाती काम में भेदप्रदा।
दलितदल जो हिन्दुओं का अङ्ग था, एक संस्कृति, भावना धार्मिक प्रथा,
हिन्द की दुर्भेघता के नाश को 'प्रथक निर्वाचन' दिया अधिकार था।

दिव्य दृग ने देख गांधी के, लिया, छद्म ने साम्राज्य के जो कुछ दिया,
जन्म ही के पूर्व इस कीटाणु के, चिकित्सक ने नाश का निश्चय किया।
जब कि वर्तुल-मञ्च-परिषद में गये थे, सबल प्रतिरोध के भाषण दिये,
"भेद की इस नीति के प्रतिकार के शक्ति से सब यत्न जाएँगे किये।"

किन्तु सत्ता में न महत्त्व पुकार का, मानती वह बल सदा तलवार का,
पर अहिंसा के, अदम्य प्रभाव था, अनवगत आश्चर्यमय अङ्गार का।
यत्न अंतिम यरवदा से ही किये, पत्र था साम्राज्य मंत्री के लिये,
"पथ गहूँगा आमरण उपवास का, प्रथक यदि अधिकार दलितों के दिये।

बंधुओं में बीज बोकर बैर का, चाहती सम्बन्ध कदली-बेर का,
कुटिल सत्ता की कुटिलता से नहीं, नष्ट होगा एकता का फल पका"।
सितम्बर इकतीस[१] व्रत आरम्भ था, किंतु शासन दर्प अब भी स्तम्भ था,
देश था हा, शक्ति हत सौमित्र-सा आमरण उपवास की सुनकर कथा।

मच गयी सहसा भयङ्कर खलबली, कूप-जल में ज्यों शिला कोई ढली,
क्षुब्धता की देखकर दुर्वारता विमन होकर गौर की गीरमा गली।
बम्बई में दलित-हिंदू-सम्मिलन, संधि द्वारा हो गये सब एक मन,
बनी-'पूना-संधि'[२], आर्याकाश के, छः दिवस में थे तिरोहित कृष्ण घन।

१-सन् १६३२। २-पूना एक्ट।

युग-युगों की खाइयाँ पूरी हुई, योजनों की, थी निकट, दूरी हुई,
आज बूठी कर चुका था मृदु सुमन, आंग्ल के कौटिल्य की तीखी सुई।
धो रहा था स्नेह-जल अस्पृश्यता, सुमति को वरती सदा ही सफलता,
ऐक्य का सु-प्रतीक 'हरिजन-संघ था' छा रही थी शरद की नभ विमलता।

पर न शशि से शुभ्र जन होते सभी, शरद में आती अमावस भी कभी,
अनैतिकता इंदु में मृग-अङ्क-सी आ गयी अनुयाइयों में थी तभी।
स्वयं ने निज साथियों के पाप का, कठिन प्रायाश्चित किया अनुपात का,
अनुचरों के दोष को हैं संतजन, मान लेते दोष अपनेआप का।

तज दिये एक्कीस दिन को अन्न-जल[1], हिंद माँ पर फिर गिरा यह नव अचल,
इस व्यथा से था विकल प्रत्येक जन, लग रहा था युग-सदृश प्रत्येक पल।
राज्य नें तब खोलदी झट शृङ्खला, तपोमय अभियान पूना का चला,
था महद् आश्चर्य तपा सुनार पर, स्वर्ण पर छाया हुआ कल्मष धुला।

स्थगित छः सप्ताह को था सत्समर, संधि का कर राज्य को सङ्केत वर,
थी तिरस्कृति किंतु उसके नयन में, सर्प की फुङ्कार करते थे अधर।
'स्थगित' शब्द न सह्य था उस व्याल को, चाहता रण-अंत था चिरकाल को,
किंतु उज्जल मुक्ति-मणि पाए बिना शक्य कैसे तुष्टि क्षुधित मराल को।

संधि चर्चा विफल अब पथ था नया, भङ्ग थी कांग्रेस-शाखा—समितियाँ,
मंत्रणा कर नायकों ने राष्ट्र के, व्यक्तिगत संग्राम को स्वीकृत किया।
चल पड़े फिर मुक्ति-मार्ग प्रशस्त को, मातृ-भू की शृङ्खला के ध्वस्त को,
पुनः पूना के निकट बंदी हुए ईसवी तैंतीस प्रथम अगस्त को।

वहाँ से भेजे गये उपचार को, आगयीं कस्तूरबा परिचार को,
संधि के सद्‌यत्न को एण्ड्रूज् भी, चल पड़े सुन मानवीय पुकार को।
संधि निष्फल, किंतु झट छोड़े गये, सुदृढ़ ताले जेल के तोड़े गये,
दलित नरसी मेहता के यान में अरुण-रथ के अश्व थे जोड़े गये।

१-(८ से २८ मई, १६३३ तक)

पूज्य माँ की रुग्णता के हेतु से मुक्त थे पंडित जवाहर जल से,
राष्ट्र की गति पर विमर्शण के लिये, (यह अगम गति-रोधता कैसे नसे ।)
महात्माजी से मिले आकर त्वरित, मातृ उर[१] था वेदना से जर्जरित,
शुभ विचारों का विमल विनिमय हुआ सांत्वना दी राष्ट्र को जो था दुखित ।

हरिजन प्रचार

बिन्दु ५

अन्तरात्मा की करुण पुकार पर चलपड़े सुन हरिजनों का करुण स्वर,
सजल लोचन पोंछने में लग गये राष्ट्र व्यापी परिभ्रमण आरम्भ कर ।
राष्ट्र के अस्पृश्यता के पाप को, मानवात्मा के दुसह संताप को,
चले धोने धर्म पर मण्डित हुई दलितता की दुखत काली छाप को ।

राजनैतिक क्षेत्र में कुछ रोष था 'युद्ध—उपरत पलायन' का दोष था,
महात्मा को किन्तु निज अभियान के, सदालोकित मार्ग पर संतोष था ।
कहरहे कुछ लोग "गांधी-युग गया" पतन के अध्याय का अब अथ नया,"
जानते थे निपुण नायक किंतु सब, कर्म-पथपर पतन क्या उत्थान क्या ?

जिस दिशा में दृग उठे, थी सफलता, थी निशासी पलायित अस्पृश्यता,
प्रेम की पलकें बिछी थी पंथ पर, सींचती श्रद्धा सुपावन यश—लता ।
निरवधिक जन—झुण्ड उत्सुक दर्श को, ले हृदय मृदु ऊर्मियों के हर्ष को,
और कुछ धर्मान्धता के रोष में थे कहीं तत्पर प्रबल संघर्ष को ।

सुजन उर का, किरण पा, शतदल जगा, युगों के मालिन्य का तमचर भगा,
किंतु चिर अज्ञान-रजनी-रत दुजन—उलूकों को प्रिय कभी रवि-रथ लगा ?
कहीं जन-जन अर्चना में रत हुआ, कहीं काली केतु से स्वागत हुआ,
कहीं लाठी के प्रबल प्रहार में प्रकट दुर्जन-हृदय का अभिमत हुआ ।

१—भारतमाता का हृदय ।

धर्म को समझे—अशुचिता धर्म में, पहुँच पाते अज्ञ जन कब मर्म में !
किंतु बढ़ते विज्ञ जन यह सोचकर, "विघ्न आता है सदा सत्कर्म में ।"
देवघर, अजमेर, पूना, आदि में, कुछ अशोभन कृत्य—कर्ता थे जमें,
किये लाठी के प्रबल प्रहार, पर क्या डरे वह—राम जिसके उर रमे !

सवर्णों के हृदय थे कुछ-कुछ धुले, हरिजनों के लिए देवालय खुले,
यत्न था मद्रास धारासभा में, "आर्य के अधिकार हरिजन को मिलें ।"
कर सुदृढ़ कांग्रेस को कर श्रम अथक, जगा घर-घर प्रेमकी, तपकी अलख,
बम्बई कांग्रेस से कुछ सोचकर होगये शशि—चाँदनी से ज्यों प्रथक ।

राष्ट्र के भावी सुशासन के लिए, ग्राम्य जन के योग्य जीवन के लिए,
महात्माजी ने दिया विधान नव, पतित के उत्थान के प्रण के लिए ।
"प्रथक होकर भी निरन्तर साथ मैं, राष्ट्र के पदपर सदा नत—माथ मैं,"
ग्राम सेवा-संघ निर्मित कर चले सत्य की लेकर लकुटिया हाथ में ।

पड़गया अविलम्ब डेरा ग्राम में, था सुदृढ़ विश्वास अपने राम में,
बनगया सु-कुटीर चित्रकूट-सा, नगर वर्धा—निकट सेवा ग्राम में ।
इधर था आघात नव भूचाल का, जर्जरित था विकल वक्ष विहार का,
चल पड़े, रहते सदा ही संत जन भार वहने समुद्यत परिवार का ।

दासता से ही दुखित थे प्रथम जन,
बन गया भूकम्प मृतकों को मरण ।
सांत्वना दी संत ने झट दौड़ कर,
पपीहे का दुख अधिक सहते न धन ।

× × × ×

डूबते को तृण,
अतुल आशा-धन ।
वेदना के घन,
धैर्य--प्रेम--पवन ।

दशमोर्मि

राजतंत्र में महासभा

बिन्दु १

रही समस्याएँ थीं अगणित राष्ट्र हृदय झकझोर,
राजनीति के निपुण नयन थे, राजतंत्र की ओर।
शासन में अधिकाधिक अधिकारों के लिए प्रयत्न,
चुनाव-संघर्ष में जय के लिए सतर्क, सयत्न।

सक्रिय थे कुछ अज्ञजनों के सम्प्रदायगत भाव,
राष्ट्र-बंधुता का होता है सबका नहीं स्वभाव।
हिन्दू महासभा ने अपने प्रतिनिधि किये समक्ष,
मुस्लिम-लीगी प्रतिनिधि प्रस्तुत थे उनके समकक्ष।

इधर राष्ट्रवादी थे तत्पर ले समता-संस्कार,
निज-निज पक्ष-समर्थन में करते सब प्रबल प्रचार।
राष्ट्र—भाव सम्मुख पर नत थे सब संकीर्ण उपाय,
जनः जनार्दन को अवगत था नीर-क्षीर का न्याय।

थे कांग्रेसी प्रतिनिधियों को मिले विजय के हार,
जिनमें गुंथा हुआ था अतुलित कर्तव्यों का भार।
हार न थे वे मृदु सुमनों के कांटों के उपहार,
थे कर्तव्य परायणता के जिन में तमाङ्कार।

बनी लोक सेवा का लेकर सत्य—प्रेम आधार
ग्यारह में से आठ प्रांत में कांग्रेसी—सरकार।
दिया मंत्रियों को बापू ने पावन आशिर्वाद,
"सेवा—पथका, शासन मदस वञ्चित रहे, प्रसाद।

"पद के मद में परीक्षितों की हुई बुद्धियाँ भ्रष्ट,
पद—यश लक्ष्मी—सम्मोहन में हो कर्तव्य न नष्ट।
जिस जनता की पद रज का है शोभित शिर पर ताज,
उनकी प्यासी आशाओं पर गिरा न देना गाज।

हो न विपथ सेवा के पथ से उर का कलित प्रवाह,
भूल न जाना चकाचौंध में अंधकार की आह।"
"नहीं सत्य-कर्तव्य-स्वर्ण तज, ग्राह्य हमें मद लोह,
बापू! शपथ, न होगा सपनों में भी राष्ट्रद्रोह।

लगे सुशासन संचालन में मंत्रीगण अविछिन्न,
"कैसे हँसे, खिले उर-शतदल जो युग-युग से खिन्न।"
बापू ने पथ दिया—"नष्ट हो मादक-द्रव्य—प्रचार,
शिक्षा, संस्कृति, स्नेह-भाव-रति, कारागेह सुधार।"

'हरिजन'[1] द्वारा समय-समय पर करते पथ निर्देश,
किया स्वयं ने ग्रामोन्नति का ग्रहण सुकार्य विशेष।
दलित जनों की लगे दलितता का करने उपचार,
लक्ष्य पतित-पावन का होता पतितों का उद्धार।

वृद्धावस्था, श्रमाधिक्य पर अविरत कर्म अकाम,
साँस—साँस में सत्य सुवासित, रोम--रोम में राम।
जो कि राष्ट्र के लिए गए थे, कारागृह में वीर,
सत्याग्रह में विविध यातनाओं को सहकर पीर।

खुलवाए उनके हित शासन से कारा के द्वार,
हृदय खोलकर मिले प्रेम से वीरों के परिवार।
कई सशस्त्र—क्रांति के योद्धा मातृ भूमि से दूर—
भोगरहे थे अंदमान में निर्वासन—दुख क्रूर।

१—हरिजन साप्ताहिक पत्र।

उन्हें हिंद बुलवाए माँकी पावन धूलि समीप,
मुक्ता बिखराती—सी आयी जिनके दृगकी सीप।
जिनके शुचि उरमें न रहे थे अब हिंसा के भाव,
हुआ मुक्ति में उनकी सफलीत तपका पुण्य प्रभाव।

बापूमय थे मंत्री मण्डल, बापूमय था देश,
स्निग्ध दुग्ध में ज्यों कि शर्करा का माधुर्य प्रवेश।
तमो मूर्ति की कस्तुराबा–चिर सह शीतल छाँह,
प्यारेलाल चरण सेवा–रत, महादेव दृढ बाँह।

श्री कनु गांधी पौत्र, सुशाली–परिचर्या में लीन,
विधि आङ्कित सौभाग्य-रेख को करते अधिक प्रकीर्ण।
सन्त विनोबा भावे सहचर, अनुचर जमनालाल,
'रघुपति-राघव' के मृदु स्वर पर प्रेम लगाता ताल।

सेवाग्राम न था, वह भारत का था पञ्चम धाम,
प्रभु की वत्सलता के प्रतिनिधि, मोहनदास ललाम।
कभी बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली, पटना, मद्रास,
वितरित करता जगती पर स्नेहाभा स्तम्भ-प्रकाश।

रोगादिक बाधा का जिसके सम्मुख नहीं महत्व,
अविरत रमता भीष्म सदृश मन ब्रह्मचर्य का तत्व।
सेवा, संयम, सत्य, निरत चिर, सद्गुण की प्रतिमूर्ति,
वासुदेव के 'सम्भवामि' की, इस युग की शुभ पूर्ति।

सन् छत्तीस, सु-प्रातवेला, मङ्गल सत्रह जून,
बापू, जिसकी स्नेह-सुधा पी तृषा न होती न्यून।
अहा, किसी के लिए स्पृहा के, योग्य न भाग्योत्कर्ष!
जब कि मिला इस कवि[1] को पावन चरण-धूलि का स्पर्श।

१–(१७ जून १९३६ को इस अकिञ्चन लेखक को, सेवाग्राम की शान्त कुटिया में बापू के प्रथम-दर्शन का सौभाग्य मिला था।)

अब भी अहरह इन आँखों में,
वह आनन्द अगाध ।
कभी न करतीं भाग्यशालिनी,
विस्मृति का अपराध ।

विविध प्रवृत्तियाँ

बिन्दु १

राजनीति से विलग सदृश हो रत रचनात्मक कार्य,
नयी प्रणाली शिशु—शिक्षा की समझ निपट अनिवार्य ।
विद्या मंदिर—शिक्षायोजन, द्वारा नव संस्कार,
करने को थी हुई समुद्यत मध्यप्रांत—सरकार ।

बना प्रौढ़—शिक्षण भी रचनात्मक प्रवृति का अङ्ग,
दरिद्रनारायण—सेवा साँसों से हुई अभङ्ग ।
गांधी—सेवा—संघ, ग्राम सेवा—संघों के काम,
तुन--तुन चर्खे चले राष्ट्र की, उन्नति को अविराम ।

हरिजन सेवा को ही सच्ची हरि की सेवा मान,
बढ़ा इसी पथ पर वत्सलता का निरभ्र अभियान ।
परिभ्रमण में वृहद् राष्ट्र के, स्पर्श किये सब छोर,
कोटि-कोटि पलकें थीं श्रद्धा से आनन्द बिभोर ।

रुग्णावस्था में भी क्षणभर लेते थे न विराम,
कर्म--मूर्ति के सम्मुख था केवल काम, काम, बस काम ।
मात-भूमि के साथ मातृ-भाषा का भी अभियान,
रक्षित पुण्य--करों में था थे सम्मेलन[१] के प्राण ।

१—हिन्दी साहित्य सम्मेलन ।

अगणित कार्यों का कन्धों पर रहने पर भी भार,
किया हर्ष से सम्मेलन का सञ्चालन दो बार[1] ।
आवणकोर गये हरिजन की सुनकर करूण पुकार,
पद्मनाभ स्वामी के मन्दिर के खुलवाएँ द्वार ।

सीमा प्रांत कि करता था जो वर्षों से मनुहार,
जिसके नायक प्रेमोपासक खाँ अब्दुलगफ्फार ।
मिला मुकुल के मधु से आविल निश्छल हृदय पसार,
प्रेम--पगी पलकों के मोती थे ग्रीवा के हार ।

मिला सहस्त्रों मुद्राओं का हरिजन हित उपहार,
मूल्यवान था मुद्रा से पर कहीं अधिक वह प्यार ।
हिंदू—मुस्लिम भाव रहित थे मानव--हृदय विशुद्ध,
प्रेम--दोल पर झूल रहे थे आज मुहम्मद--बुद्ध ।

इसी प्रेम की भीख माँगने दोनों हाथ पसार,
गए बम्बई श्री जिन्ना के इन्द्र—भवन के द्वार ।
पर जिन्ना के लोह—हृदय में था न विनय का लेश,
दुर्योधन की दर्प-वृत्ति से चिर परिचित लोमेश ।

भले न चाहे कोई निर्झर तो बहता अविराम,
"प्रेम घाट पर मिल ही जाएँगे रसूल औ' राम ।"
कभी विरत होते न यत्न से धीर—वीर सत्सन्त,
"बीज वपन पर किसी दिवस तो विकसेंगे ही वृन्त ।"

इसी भाँति रहते नभ—उरमें, घिरे प्रेम—जलवाह,
सत्य—अहिंसा, ब्रह्मचर्यमय जीवन-सलिल-प्रवाह ।
आत्म-साधना में स्वास्थ्यप्रद अगणित अशन प्रयोग,
शुभ कार्येतर व्यर्थ न करना वाणी का उपयोग ।

१—इन्दोर में सन् १६१५ और ३४ में ।

वाचिक संयम को रखना प्रति सोमवार को मौन,
जीत लिया जिसने मन, जगमें दुर्जय बाधा कौन ?
रसना से मृदु दुग्धादिक का रस था हुआ विलीन,
राम नाम--रस--सागर की वह थी अब मीन अदीन ।

महासभा का पदत्याग

बिन्दु ३

राजतंत्र में मंत्री--मण्डल इधर प्रगति--आरूढ़,
अन्तर्दुष्ट उधर मन ही मन जलता था मद-मूढ़ ।
था असह्य उसको नेताओं का यह जन--सम्पर्क,
सह्य न जनः जनार्दन के प्रति भक्तों का मधुपर्क ।

प्रान्तेशों ने कहीं—कहीं पर खड़े किये प्रतिरोध,
निपुण मंत्रियों के कौशल से थे सब विफल विरोध ।
इसी अवधि में अस्ताचल में लगी युद्ध की आग,
उड़ा शांति के उर्मिल--मानस का सब सौख्य--पराग ।

आंग्ल और जर्मन सत्ता में चले परस्पर तीर,
दिग्दिगत में उड़े अग्नि--कण पाकर कलुष--समीर ।
कुरुक्षेत्र बनगयी शीघ्र ही यूरुप--भूमि समस्त,
निगल-निगल होता था नरको सुरसा--वदन प्रशस्त ।

भारत का निर्विष अभिमत था नर संहार विरुद्ध,
पर सत्ता का दुरभि संधियुत अंतर था न विशुद्ध ।
जनमत की अवहेला करके किया धृष्ट उद्घोष,
"युद्ध -लग्न है हिंद ।" हिंद का जाग उठा तब रोष ।

राष्ट्राध्यक्ष सुभाष कुपित हो गरज उठे तत्काल,
"अब अपमान न अधिक सहेगा भारत-भाल विशाल।
स्वाभिमान की राष्ट्र हृदय में जगी दहकती आग,
युद्धोद्देश्य प्रकट करने की सत्ता से थी माँग।

"प्रतिफल मे क्या मिलना है यदि दें रण में सहयोग ?
स्वतन्त्रता का कर पाएगा क्या भारत उपभोग ?
स्वयं भाग्य-निर्णय का होगा क्या इसको अधिकार ?
होगा सुचारु शासन का क्या निर्वाचन आधार ?

क्या साम्राज्यवाद की लोहाङ्गुलियाँ होगीं नम्र ?
पारतन्त्र्य के विष-घन से क्या होगा गगन निरभ्र ?"
किंतु न थी सत्ता की श्रुति को यह सन्मति स्वीकार,
सुदृढ़ धारणा थी—"समर्थ है शासन की तलवार।"

प्रति विरोध में महासभा ने दिये मंत्रि-पद त्याग,
पद का लोभ न था उसको, था सेवा में अनुराग।
जन-सेवा पर सत्ता का था निर्-अङ्कुश आघात,
चले लगा कर स्वत्व हीन-से अधिकारों को लात।

त्रिपुरी-कांग्रेस

बिन्दु ४

त्रिपुरी अधिवेशन के नायक के हित हुआ चुनाव,
नम्र-उग्र दल के हृदयों म जागा कुछ दुर्भाव।
उधर क्रांति के पक्ष-समर्थन में सुभाष का हाथ,
बापू की थी इधर अहिंसक मनोभावना साथ।

तरुणाई आकुल थी बन्धन क्षत करने अविलम्ब,
इत्सुक थी—हो जाए सत्वर आन्दोलन आरम्भ ।
इँधर धैर्य की मूर्ति धैर्य का करती थी उपदेश,
क्रांति भाव के आज साथ था आकुल हिन्द प्रदेश ।

पट्टाभी पा सके न जनता का समुचित विश्वास,
वंद्य राष्ट्रपति के आसन पर शोभित हुए सुभाष ।
बापू ने झट पट्टाभी की मानी अपनी हार,
वत्सलता-प्रतिपादन का है यह भी एक प्रकार ।

श्री सुभाष पर बापू का था न्यून नहीं वात्सल्य,
उमड़-उमड़ पड़ता था अविकल विमल प्रेम-प्राबल्य ।
"श्री सुभाष-सा पुत्र रत्न पा मेरा उर सन्तुष्ट,
पर मेरा दुर्भाग्य कि मुझ से रहते हैं वे रुष्ट ।"

श्री सुभाष इच्छुक थे—"रिपु को देख सङ्कटापन्न,
हो आघात चतुर्मुख" बापू थे इससे न प्रसन्न ।
"रिपु की विपन्नता से लाभान्वित होना दुष्कार्य,
यह कायर आघात नहीं है वीरोचित औदार्य ।

भारतीय आदर्श, अहिंसा का क्या यही प्रसाद ?
कहीं न्याय-अनुकूल कभी भी होता अवसरवाद !"
सिद्धान्तों की बात न सोचा, करते पर कौटिल्य,
शुभ वरदान समझते वे तो रिपुजन का दौर्बल्य ।

सफल न हो पाए पर उनके क्रांति-भाव आरब्ध,
हुए अंत में राष्ट्र-रथी-पद परित्याग को बाध्य ।
आंदोलन के साथ नहीं था नेताओं का पक्ष,
लगी हुई थी किसी लक्ष्य पर दूर दृष्टियाँ दक्ष ।

किया अग्रगामी दल ने[1] तरुणाई का उर स्पर्श,
मति के साथ त्वरा का था वह प्रेम पूर्ण संघर्ष।
उधर संधि को बढ़े पुनः आचार्य राजगोपाल,
राजनीति के प्रकाण्ड पंडित, मेधा-शक्ति विशाल।

ला प्रस्ताव कि "सत्ता करले स्वतन्त्रता स्वीकार,
और केन्द्र में उत्तरदायी निर्मित हो सरकार।
जो कि राष्ट्र की रक्षा का ले निज कंधों पर भार,
योग युद्ध-यत्नों में दे पाए जो सभी प्रकार।"

'सब प्रकार' में अंतर्हित था हिंसात्मक भी योग,
बापू को स्वीकार न था, इस भाषा का उपयोग।
भारतीय स्वातंत्र्य—समर का हिंसात्मक आधार—
नहीं स्वप्न में भी हो सकता था उनको स्वीकार।

"मुझे न चिंता यदि कि अकेला ही रह जाऊँ आज,
सत्य-अहिंसा की न कभी भी लुटने दूँगा लाज।"
उधर न सहमत थी सत्ता भी देने को अधिकार,
विफल हुए सब यत्न शिला पर ज्यों जल—बिंदु—प्रहार।

व्यक्तिगत सत्याग्रह

बिन्दु ५

भारतीय आकांक्षाओं पर, कर अवहेला—व्यङ्ग,
बना दिया भारत को हिंसात्मक विनाश का अङ्ग।
स्वतन्त्रता का प्रश्न नहीं था शासन-श्रुति को श्रव्य,
उसे चाहिये था बस केवल युद्ध—कुण्ड को हव्य।

[1] १-फारवर्ड ब्लाक।

इधर दैन्य की विषम स्थितियाँ अनुदिन प्रबल प्रकीर्ण,
क्षुधा–अनल में झुलस रहे थे कोटि–कोटि जन दीन ।
जिन्हें स्वप्न में भी न सुझाया लक्ष्य-हीन–संहार,
क्षुधा–शांति को बस सेना में थे प्रविष्ट साभार ।

भारतीय गौरव का रवि था मेघ–ग्रस्त निर्–आभ,
सदा विवशता से दुर्बल की दुर्जन लेते लाभ ।
उधर दमन का अधिकाधिक था चक्र क्षिप्र गतिमान,
'शांति–सुरक्षा' मिस पदलुण्ठित भारत का अभिमान ।

विमल मुक्ति के मंत्र प्रदाता थे नेतागण बद्ध,
स्वतन्त्रता का प्रश्न आज था कारा से सम्बद्ध ।
सहन शक्ति होती है सीमित, सीमित ही औदार्य,
भारतीय–सम्मान–सुरक्षा थी अब अति अनिवार्य ।

उधर आंग्ल की लोहाङ्गुलियाँ, अनुदिन अधिक सशक्त,
उबल रहा था उधर मुक्ति को तरुणाई का रक्त ।
श्री चर्चिल–साम्राज्य–सचिव थे दृढ़ मन कृत संकल्प,
जिनके दृगमें दमन मार्ग अतिरिक्त न अन्य विकल्प ।

नहीं चाहते शांति–मूर्ति थे ऐसे समय प्रहार
जब कि खड़ा हो विपक्षता की, शत्रु मृत्यु के द्वार ।
और न था रिपु–पद पर नत-शिर होना भी स्वीकार,
सह्य न शान्त मनुजता पर दानव का निठुर प्रहार ।

स्वत्व, मान, प्रतिरोध-प्रदर्शन को होकर निरुपाय
किया व्यक्तिगत सत्याग्रह का स्वीकृत शान्त उपाय ।
"हम स्वतन्त्र हैं, मान्य न हम को आंग्ल–छत्र की छाँह,"
स्वतन्त्रता के पथपर उतरा, अतुलित शौर्य–प्रवाह ।

संत विनोबा बढ़े लिए कर दिव्य सत्य की केतु,
त्रेता के पश्चात आज फिर सागर पर था सेतु ।
एक—एक कर, तीस सहस्रजन, थे करा में बंद,
कर न सका पर मारुत—गति को, दमन—चक्र निस्पन्द ।

नर केसरिया पहिन, नारियाँ गयीं लगा सिंदूर;
कहीं छाँह क्या होने पायी, कभी देह से दूर !
यूरुप में रण की ज्वालाएँ, चूम रही थीं व्योम,
झुलसित था वसुधा का मृदुतन, झुलसित थे रवि—सोम ।

कँपा रहा था दिग्मण्डल को, हिटलर का आतंक,
घेर रहे थे संशय के घन, उज्ज्वल आंग्ल—मयङ्क ।
देख फैलती-सी विनाश की ज्वाला चारों ओर,
रही विजय की आशाओं को शङ्काएँ झकझोर ।

कुछ ढीले—से हुए दर्प के,
दृढ़ बंधन अनुदार ।
उन्मन मनसे खुले हिन्द की,
कारात्रों के द्वार ।

अन्तर्द्वंद्व

बिन्दु ६

उधर पूर्व तक भी पश्चिम के फैले अग्नि-स्फुलिङ्ग,
'पर्ल हारबर' आग्नेयस्त्रा, क्लांत अमित विकलाङ्ग ।
आर्यधरा के अधिक निकट होता जाता था युद्ध,
चिंतित थे इस संकट से बचने को सभी प्रबुद्ध ।

'राष्ट्र-सुरक्षा' की इच्छाओं से था प्रतिजन मुक्त,
किंतु संधि का द्वार न था सम्मान पूर्ण उन्मुक्त ।
थे सहमत-"यदि बने केन्द्र में उत्तरदायी तंत्र,
होगा सहयोगी-अनुभव कर निज को हिंद स्वतन्त्र ।

"मानवता यह नहीं कि मानव, मानव को दे ताप,
स्वात्म-सुरक्षा को पर होता है संग्राम न पाप ।
पशुता का प्रतिकार न करना, कायरता दौर्बल्य,
पाप नहीं है कभी शल्य के प्रत्युत्तर में शल्य ।"

किंतु अहिंसा में बापू की, थी न नीति यह क्षम्य,
अवलम्बित था नहीं शस्त्र पर, उनका शौर्य अदम्य ।
"उचित न पापों के उपशय को, पापों का व्यवहार,
शुभ कार्यों का, शोभनीय का, कभी अशुभ आधार !

क्या कुपुत्र पर नहीं बरसती, जननी निज औदार्य,
पशु की प्रताड़ना को है क्या, पशु बनना अनिवार्य ?
हिंसा का प्रतिकार न मुझ को, हिंसा से स्वीकार;
बल न अहिंसा में जो शस्त्रों का मानें आभार ?"

सत्ता भी सुनती न उधर थी, स्वतन्त्रता की बात,
अधिक सघन होती जाती थी नभ में काली रात ।
शांत चीन की छाती पर था उधर चढ़ा जापान,
पदाक्रांत था सिंगापुर का चिर अविजित अभिमान ।

नाच उठा था ब्रह्मदेश के आँगन में भी नाश,
"भर जाएगा कब लपटों से, भारत का आकाश !"
ब्रह्मावासी भारतीय जन भी थे अति भयभीत,
किसे न होती है सङ्कट में निज प्राणों से प्रीत ।

दल के दल बादल-से दौड़े मातृ-भूमि की ओर,
प्राणों ने पकड़ी थी आशाओं की कच्ची डोर।
यद्यपि होता है रक्षा का सत्ता पर दायित्व,
किंतु विदेशी सत्ता क्या समझे अपना कर्तृत्व ?

गोरजनों को यानादिक के, साधन प्राप्त प्रशस्त,
भाग्य भरोसे भारतीय की, आशा थी आश्वस्त।
वन्य मार्ग से, प्राण बचाने, भागे अगणित लोग,
छूटे भाई, भगिनी, माता, था सुत-पिता वियोग।

जिसको जिधर मिला पथ दौड़ा, ले प्राणों का मोह,
था प्रियतम से प्राणप्रिया का, कितना दुखद विछोह।
एक मार्ग में श्रांति-क्लान्त हो गया मृत्यु के द्वार,
एक भूख से तड़प-तड़प कर छोड़ चला परिवार।

महामारियों ने कितनों को, किया एक ही ग्रास,
पथ के तरु-गिरि सिसक रहे थे, देख-देख कर त्रास।
सुविधापूर्ण पथों पर था बस, गोरों का अधिकार,
और हिन्दियों का वन-पथ पर, सामूहिक संहार।

आ कुछ बचे विलखते रोते, आए सह-संताप,
जिनके दुख की कथा रही थी, कङ्कालों में काँप।
लिखा न जाता मानवता का, दारुण दुसह विषाद,
मूत्र-पान कर तृषा बुझाने, के भी थे अपवाद।

उबल उठी जननी की छाती, ये दुर्गतियाँ देख,
उर आकुल वात्सल्य भाल पर, थी विषाद की रेख।
आँखों में था दुख का पानी, और क्रोध की आग,
अग्नि-वरुण दोनों थे विचलित, देख दैन्य दुर्भाग।

ज्येष्ठ और सावन का, दृग निर्झर तट करुण मिलाप,
शिशिर-कम्प तन डोल रहे थे, करते हुए विलाप ।
यह विभीषिका देख युद्ध की, परवशता का पाप,
विचलित हुई धैर्य की धरती, सह दुस्सह अनुपात ।

"क्या मानवता हुई तिरोहित, वसुधा मनुज विहीन !
क्या दानवता और दैत्य के, दिग्मण्डल आधीन ?
रक्षा हित निष्क्रमण--कार्य में, पक्षपात की नीति !
शासित जन के प्रति शासक की, यह विषाक्त दुर्नीति !

गौर जाति के हित रक्षित सब-यान और सब पंथ,
औ' कालों का क्रूर काल के, मुख में सकरुण अन्त !"
युद्ध उत्तरोत्तर भारत के, निकट प्रलय अनुरूप,
बदल रहा था तीव्र वेग से, घटनाओं का रूप ।

प्रति पल बढ़ता ही जाता था, अधिकाधिक संहार,
"किस क्षण बरसादे भारत का, नीलाम्बर अङ्गार !"
आवश्यक-सा लगा हिन्द की, रक्षा हित रण-योग,
नेताओं के मत से था अब, समुचित शक्ति-प्रयोग ।

पर दुविधा पर झूल रहा था, बापू का मृदु मर्म,
इधर प्रश्न था स्वतन्त्रता का, उधर अहिंसा-धर्म ।
अन्तर्द्वन्द्व रहा था उर को, आँधी-सा झकझोर,
मंथन पर था जय का पलड़ा, स्वतन्त्रता की ओर ।

"वही यत्न हो नर संहारक, जैसे रुके अशांति,
है आपत्ति न लड़े हिन्द यदि, मुक्त राष्ट्र की भांति ।"
यह निर्णय था नहीं, रक्त की, घूँट और विष-पान,
हिंसा का था मृदुल अहिंसा की छाती में बाण ।

यह निर्णय था नहीं हृदय की,
आकुल करुण कराह ।
प्रवहमान था पीड़ाओं का,
युग का करुण प्रवाह ।

क्रिप्स-वार्ता

बिन्दु ७

आंग्ल-युद्ध-परिषद ने रण में, पाने को सहयोग,
प्रस्तुत किया हिन्द को, समझौते का नव संयोग ।
क्रिप्स-शिष्ट-मण्डल आया, ले भेद-भरा प्रस्ताव,
आर्य-धरा के अङ्ग-भङ्ग का, जिसमें दुसह दुराव ।

था युद्धोत्तर स्वतन्त्रता का, जिसमें शुभ (!) मन्तव्य,
निपुण नायकों को न मिला पर, 'मुक्ति-लक्ष्य' गन्तव्य ।
प्रांतों को जिसमें कि केन्द्र से, प्रथक्करण का स्वत्व,
स्वीकृत जिसमें राजाओं का, था स्वतन्त्र अस्तित्व ।

प्रांतों के अतिरिक्त यहाँ पर, छः सो देशी राज्य—
स्वतन्त्र रहते, कैसे भारत, रह सकता अविभाज्य ?
क्रिप्स-योजना नेतागण यदि, कर लेते स्वीकार,
प्रथक्करण के भय की असि की, लटका करती धार ।

जहाँ कि जनतन्त्रात्मकता का, नहीं उचित परिणाम—
कैसे निर्मित होता जन—जन के, अनुकूल विधान ?
होती सामंतों की जनता, के सिर पर तलवार,
या स्वराष्ट्र के शत—शत टुकड़े, करते हा हाकार ।

अङ्ग–भङ्ग पर भारत माँ का, होता शतधा वक्ष,
किंतु न उसके पुत्र सभी थे, इतने अज्ञ—अदक्ष ।
हाँ, कुछ स्वार्थी पुरुषों का था, निहित स्वार्थ पर ध्यान,
माँग रहे थे पृथक हिंद से, जिन्ना पाकिस्तान ।

महासभा[1] को यह विभेद की, नीति न थी स्वीकार,
प्रबलाकांक्षा थी कि–रहे यह, राष्ट्र एक परिवार ।
यद्यपि बापू राजाओं के, थे सम्मित्र अवश्य,
सह्य न पर राज्यों की जनता, का अस्पष्ट भविष्य ।

यद्यपि क्रिप्स के वक्तव्यों में, था ऐसा सङ्केत,
"रक्षा के अतिरिक्त व्यवस्था, करें हिन्द समवेत ।"
महासभा सहमत थी–"सेना, रहे आंग्ल-आधीन,
रक्षा—मंत्री—पदपर हो पर, भारतीय आसीन ।"

चतुर क्रिप्स की चर्चाएँ थीं, मधुर और सुश्राव्य,
भारत के जन—जन के मन को, लगी संधि संभाव्य ।
अंतिम क्षणमें किंतु कुटिल के, खुला हृदय का छद्म,
हुआ तुषाराक्रान्त सुआशा, का उदयोन्मुख पद्म ।

"युद्ध—समिति में नहीं हिन्द को, होगा कुछ अधिकार,
कुछ स्थानों के लिए मात्र, होगी सेवा स्वीकार ।
युद्ध—सचिव के स्थान न होगी, कोई नयी नियुक्ति,"
वेरझरी में उलझ गयी थी, फिर भारत की मुक्ति ।

उधर कल्पनाओं के प्रासादों, का बुझा प्रकाश,
कता कताया सूत, बन गया, था फिर आज कपास ।
स्पष्टोत्तर था महासभा के, अधिपति का गंभीर,
"अङ्ग–भङ्ग का सपने में भी, सह्य न तीखा तीर ।

[1]–कांग्रेस ।

कभी केन्द्र से पृथक रहेंगे—नहीं प्रान्त औ' राज्य,
हिमगिरि—सागर, अटक—अटक तक, भारत चिर अविभाज्य।
अभिप्रेत है हमें नहीं—हो, दल—विशेष का राज्य,
पदलोलुपता—रहित सम्मिलित, शासन सुन्दर आज्य।

मातृभूमि पर सब पुत्रों का, है समान अधिकार,
मान्य न भारत को विभेदमय, यह अभिमत सविकार।"
महासभा से समझौते का देख नहीं अवकाश—
किया क्रिप्स ने प्रयाण सत्वर, होकर विफल प्रयास।

मरुस्थली पर भटक, थका प्रिय—
भारत मन—मृग दीन।
ओस-बिन्दु की झिल-मिलती-सी
आभा हुई विलीन।

× × × ×

सत्य, शासन-नीति में है स्वप्न-जल,
रेणु-कण में तेल की आशा विफल।
बिछी रहती कुटिलता प्रत्येक पद
अतुल जिसको लिख नहीं पाएँ द्विरद।

एकादशोर्मि

विषम वातावरण

बिन्दु १
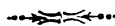
नेताओं की निपुणतादि से था यद्यपि क्रिप्स का जाल विफल,
निर्धूम न होने पाया था पर भारतीय नभ का अञ्चल।
होते जाते थे अधिक सघन अम्बर में घन अङ्गार लिए,
'घड़-घड़' 'घड़-घड़' की ध्वनियों में, मानवता का संहार लिए।

बर्मा-स्थित भारत संतानें निष्क्रमण चाहती थीं सत्वर,
था मलय वायु में सिसक रहा जिनकी आहों का कातर स्वर।
पर सत्ता ने रक्षा के मिस नावादिक साधन नष्ट किये,
जीवन की ममता आकुल थी पाने आशा के कहीं दिये।

मच गयी असीमित भयाक्रान्त जनता की सामूहिक भगदड़,
थी उखड़ चुकी जिनके उर से जीवन की आशाओं की जड़।
चल पड़े वन्य पथ पर की जहाँ हिंसक पशुओं का भय क्षण-क्षण,
दुर्लंघ्य घाटियाँ कण्टकमय जिनमें घुटने-घुटने कीचड़।

कुछ भूख-प्यास से तड़प तड़प काया के बन्धन तोड़ चले,
परवशता के इतिहासों में कुछ नये पृष्ठ थे जोड़ चले।
कुछ श्रांति ज्वरादिक रोगों से उस क्रूर काल के ग्रास हुए,
लेखनी न अश्रु से लिख पाती दीनों को जितने त्रास हुए।

बच गये भाग्य से जो, उनको दुष्कालग्रस्त बङ्गाल मिला,
दुर्भाग्यग्रस्त उन हंसों को रत्नाकर भी कङ्गाल मिला।
जल गये उदर की ज्वाला में एकार्ध लक्ष से अधिक मनुज,
थे अन्नागार भरे, जिन पर, अधिकार किये थे मत्य दनुज।

दुश्शासन की दुर्नीति और धनपतियों की धन लिप्सा ने—
हा, अछत अन्न, दुष्काल दिया भूखों की व्यथा बिना जाने।
थी उधर युद्ध की ज्वालाएँ छू रहीं पूर्व की सीमा को,
था नाश निगलने को आतुर चिर पदाक्रान्त भारत माँ को।

नेतागण में आकुलता थी "आक्रामक का प्रतिकार करें,
द्वारस्थ युद्ध के याचक का शस्त्रों से ही सत्कार करें।
हो एक सूत्र-संगठित राष्ट्र इस महा नाश को ललकारे,
फिर चला न पाए दानवता मानवता के उर पर आरे।

पर संशयशीला सत्ता को ऐसा न संगठन सह्य कभी,
रुजग्रस्त मनुज की रसना को कड़ुए लगते सुपदार्थ सभी।
उसको तो इस संकट में निज सेना पर भी विश्वास न था,
थे दुर्योधन के सम्मुख सब नेताओं के सद्यत्न वृथा।

इन जीवन—मरण क्षणों में पर निष्क्रिय रहना सम्भाव्य न था,
थीं घटनाएँ दृग के सम्मुख, कोई रहस्यमय काव्य न था।
कर्तव्यमूढ़—सी सब जनता, नेता जन भी असमञ्जस में,
"हो कैसे कोई समझौता जब तक दुर्मद सत्ता न नमे।"

था अन्य शत्रु का भारत पर आक्रमण रोकना आवश्यक,
रक्षार्थ कोटिशः जनता के थे बिछे हुए लोचन अपलक।
पर स्वाभिमान के शव पर यह रण का सहयोग न सम्भव था,
'पद—दलित दास की भांति लड़े' भारत के लिए असम्भव था।

सत्ता की इस हठधर्मी पर जन-मन-मानस विक्षुब्ध अमित,
उस ओर युद्ध की ज्वालाएँ, इस ओर दमन की रात असित।
उसको जनता के रक्षण की चिंता अथवा अनुराग न था,
'लोहाङ्गुलियाँ ढीलीं न पड़ें' जन हित से कोई राग न था।

शासन जब निज दायित्वों से हो जाता है कर्तव्य—विमुख,
सङ्कट में स्वात्म—सुरक्षा को जनता तब होती है उन्मुख।
दृढ़ निश्चय हुआ कि "आक्रामक यदि आर्य-धरा पर चरण धरे,
जिन—जिन क्षेत्रों में दावानल भीषण विनाश लेकर उतरे।

"निश्शस्त्र प्रजा का शस्त्रों के सम्मुख उन्नत मस्तक न झुके,
रण की सरिता का प्रलयङ्कर वह प्रबल प्रवाह रुके, न रुके।
शोणित प्यासी सेनाओं को दाना न मिले पानी न मिले,
धू-धू करता वह कोपानल शीतल हो अथवा अधिक जले।"

भारत छोड़ो

बिन्दु १

उत्सुक था भारत—अंग्रेजी शासन की शीघ्र समाधि बने,
पर यह भी सह्य न था कि यहां जापानी नूतन व्याधि बने।
था असमञ्जस की लहरों पर भारत का भावी डोल रहा,
सुविचार तुला के पड़लों पर जय और पराजय तोल रहा।

रण की ज्वालाएँ भूतल से थी नभ की दूरी माप रही,
हिंसा के सम्मुख आज तनिक चिर शांत अहिंसा काँप रही।
अंग्रेजी सत्ता तिल भर भी झुकने के लिए न सहमत थी,
तब आत्म समर्पण को तत्पर कैसे हो जाता निपुण रथी।

हो उष्ण रक्त जब रग—रग में क्यों हो यौवन की लुप्त प्रथा?
निर—अङ्कुशता के चरणों पर झुकने के लिए समर्थ न था।
झुकने का होता अर्थ यही "यह दुसह दासता अमर बने,
काली रजनी पर मेघों का अधिकाधिक सघन वितान तने।

यदि आंग्ल–दमन के सम्मुख हम निष्क्रिय विरक्त हो बैठ गये,
प्रतिकार करेंगे क्या उनका आने वाले जो कष्ट नये।"
यद्यपि रण—सङ्कट में रिपु को बाधा पहुंचाना लक्ष्य न था,
सम्मानपूर्ण समझौते के हो चुके किंतु सब यत्न वृथा।

बापू को जो चिर युवक—वृद्ध, थी यह विडम्बना सह्य नहीं,
है चार प्रहर से अधिक समय रवि—रथको मावस सह्य कहीं।
निष्क्रियता की नीरवता में धुक्—धुक् कर शङ्खध्वनि जागी,
यौवन का नूतन गान जगा "जागो प्रभात के अनुरागी।"

अष्टम अगस्त को दमक उठी स्वातन्त्र्य-प्रेम की प्रखर प्रभा;
एकत्र बम्बई नगरी में भारत की प्रतिनिधि महासभा।
सत्ता समेट ले जाने को अंग्रेजों को संकेत दिया;
चिर पदाक्रांत अंगारों ने बन्धन क्षय का प्रस्ताव किया।

"अब सह्य न माँ की छाती पर पीड़ाओं का यह वज्र-अचल;"
"बन्धन तोड़ो" बोला मारुत, बोला उद्वेलित अर्णव-जल।
परवश रह, कर सकता न हिंद आक्रामक का प्रतिकार कभी;
यह आंग्ल-राज्य की जय का भी होगा न सफल आधार कभी।

युग से परदेशी दमन-राज्य मानवता का संहार बना;
इससे ही उस के कन्धों पर यह परवश भारत भार बना।
शस्त्रों से कुचली हुई लता क्या शैल-शिखर पर है चढ़ती ?
परवशता की पीड़ा से तो अधिकाधिक दुर्बलता बढ़ती।

परतन्त्र राज्य निज रक्षा में हो सकता कभी समर्थ नहीं;
हो सकता शासक का न सिद्ध शासित से कोई अर्थ कभी।
इस विश्व-युद्ध में मित्र राष्ट्र यदि रखते जय की अभिलाषा,
अपनाएँ भारत के हित वे छल रहित मित्रता की भाषा।

स्वाधीन हिन्द की तरुणाई आक्रामक से लोहा लेगी;
मानवता की पावनता की रक्षा को आहुतियाँ देगी।
जनतन्त्रवाद की रक्षा को होगा तब भारत उपयोगी;
क्या बने सहायक औरों का जब तक कोई रहता रोगी!

जनतन्त्रवाद, जिसका कि दम्भ संयुक्त-राष्ट्र करते घोषित;
भारत ही आज कसौटी है सत्सिद्धान्तों (!) से अनुमोदित।"
अंग्रेजों को था सद्विमर्श "हो सन्धि, स्नेह आधार बने;
इस समर-अवधि में भारत में अंतर्कालिक सरकार बने।

सब दल की प्रतिनिधि बन कर के सब दल का जो नेतृत्व करे;
जो शस्त्र-सुसज्जित सेना ले रक्षार्थ युद्ध भू पर उतरे।
निर्माण करे फिर वह स्वतन्त्र—भारत के लिए विधान सभा,
सब दल के प्रतिनिधि गण की हो आलोकित जिसमें ज्ञान-प्रभा।

होगा विधान संघीय, संघ—सम्बद्ध केन्द्र की सत्ता में,
अधिकाधिक होंगे पर स्वतन्त्र—निज क्षेत्रों की सुव्यवस्था में।
होगा स्वतन्त्र भारत समर्थ आक्रामक के प्रतिकारों को,
कर सकते जग को भस्म, मिले कुछ अवसर यदि अङ्गारों को।

इच्छुक न हिंद अंग्रेजों से सङ्कट—क्षण में संघर्ष मचे,
संयुक्त राष्ट्र—दल को रण के उद्योगों में बाधा पहुँचे।
पर जब इन राष्ट्रों के सम्मुख बढ़ रहा उत्तरोत्तर सङ्कट,
औ' झुलस रहा समरानल से भारत के मानस का भी तट।

ऐसे क्षण में निष्क्रियता का निकलेगा केवल अर्थ यही—
'अपने गौरव की रक्षा में भारतवासी सुसमर्थ नहीं।'
"कार्पण्य-दोष-हत् जनता जो कर सकती निज उद्धार नहीं,
पर राष्ट्रों के संरक्षण का बन सकती वह आधार नहीं।"

भारत की प्रतिनिधि महासभा जन--जन हितचिंतक कल्याणी,
बोली यौवन की भाषा में कुचली मानवता की वाणी।
"साम्राज्यवाद की रक्त स्नात निर--अङ्कुश लोहाङ्गुलियों से--
आकुल विमुक्ति को, भारत के जन शुभ्र रश्मियों के प्यासे।

शक्तिप्रयोग की आकांक्षा, जो दहक रही है जन--जन में,
होता क्या दमन कभी सम्भव जो दामिनियाँ दमकें घन में।
आतुर जन-जन का उष्ण रक्त देने निज पौरुष का परिचय,
होगी स्वतन्त्रता भारत की जग के हित में भी मङ्गलमय।

शुचि स्वतंत्रता का जन्म सिद्ध--स्वत्व से भी स्वत्व लिया जाए,
बापू के आदेशानुसार व्यापक संघर्ष किया जाए।"
"कुछ करो, करो या मरो वीर!" थी नयी चेतना नव ज्वाला,
दृग के दो उज्ज्वल दीपों में था प्रातरंशु का उजियाला।

भारत की तरुणाई बोली बापू की उन हुङ्कारों में--
"देखूँगा कितनी दहन--शक्ति इन सोये--से अङ्गारों में?
देखूँगा--कितना शौर्य भरा उर जौहर की मनुहारों में?
कितनी दामिनियाँ सोयी हैं उन रजपूती संस्कारों में?

कितना यौवन है? देखूँगा लहराते पारावारों में?
दिनकर की कितनी किरणें हैं भू पर बिखरे इन तारों में?"
बोले पुनश्च "यदि सफल न हो समझौते का अंतिम अवसर,
जनता तब रण के लिए रहे करतल पर प्राण लिए, तत्पर।

वह तीर चले तब हिंसा की छाती पर प्रखर अहिंसा का,
रवि--किरणें पहुँचे वहाँ जहाँ सोयी है तमोमयी राका।
दुर्योधन की हठधर्मी से हो सकी सफल यदि संधि नहीं,
युग से कुचली मानवता का शोणित ही चाहे यदि कि मही--

कण—कण की होगी हुङ्कारें,
परवशता के बंधन तोड़ो।
शङ्खध्वनि होगी—"अंग्रेजो!
भारत छोड़ो, भारत छोड़ो।"

परतन्त्रता-उन्मूलन की जो भावना पावन,
यह समर स्वातंत्र्य की प्रस्तावना पावन।
पाशविकता नाश की चिनगारियाँ देखे,
या चिता की अग्नि में फुलवारियाँ देखे।

अग्नि का गुण है जलाना मिले जो कुछ हव्य,
दोष क्या पथका न जाने यदि पथिक गंतव्य।
देख लपटें, छोड़ जाएँ यदि न पंछी, बन—
समझलो दुर्बुद्धियों को प्रिय न जीवन-धन।

द्वादशोर्मि

क्रांति अमर हो

बिन्दु १

सन बयालिस, दिन नौ अगस्त,
कुछ शेष निशा, कुछ अंधकार ।
कुछ-कुछ प्रकाश धूमिल-धूमिल,
सुरगण की जागृति की बेला ।

'घर-घर' सागर का गुरु गर्जन, आकाश सघन कुछ शीत पवन,
'सन्-सन्' ध्वनि में कुछ कहता-सा 'भारत माँकी यह अवहेला ।'
"माता की अवहेला कैसी ?" था प्रश्न एक, कुण्ठित विवेक,
मारुत ! बोलो रण-आमंत्रण किस काल-कवल ने है झेला ?"

"नेतागण का अपहरण हुआ ।" रवि-रश्मि प्रथम वह तद्गुण तीर,
तिलमिला उठी खर तरुणाई, उबला रत्नाकर का पानी ।
"किस गृह में बंदी जननायक ?" 'अज्ञात स्थान अज्ञात दिशा'
अज्ञात शौर्य की लपटों से थी उलझ रही गोरी रानी ।

बम्बई नगर शुचियज्ञ-कुण्ड, आव्योम भूमि अग्निस्फुलिंग,
प्रति प्रांत, नगर, पुर, गेह सजग 'हो क्रांति अमर' ध्वनि कल्याणी ।
तड़-तड़, तड़-तड़ बंधन के स्वर, सब अस्त व्यस्त शासन-प्रबंध,
थर्-थर् विधान, सब नियम विकल 'हो क्रांति अमर' ध्वनि कल्याणी ।

सावन की सरिताएँ उमड़ीं, जन क्षुब्ध झुण्ड थे वारिवाह,
था इधर उधर केवल प्रवाह विप्लव के पथ का आरोही ।
प्रलयंकर आंधी, ज्वालाएँ, घृत-स्रवित मेघ, शत कोटि धार,
"कब तक रे, आजादी उधार ? कर-शीश प्राण के निर्मोही !"

रिपुकी असि चमचम दामिनियाँ प्रतिरोध प्रबल प्रतिरोध-अचल,
बहती गंगाकी धार नहीं रुकने को ही झुकने को ही।
'धड़-धड़ धड़-धड़' आग्नेय अस्त्र, नभ धूम्र-अंध, निश्शस्त्र लोग,
पर जूझ न पाए ज्वाला से वह कौन चोर देशद्रोही!

राष्ट्रव्यापी हड़तालें थीं, व्यवसाय बन्द, सब यन्त्रों की—
'घड़-घड़' ध्वनियाँ होगयीं स्तब्ध, रेलें 'धड़-धड़' चलनेवाली।
कम्पायमान थी इन्द्रप्रस्थ, डगमग—डगमग वह राज मुकुट,
डगमग डगमग सिंहासन पर भयभीता सत्ता मतवाली।

जन—जन के शिरपर तलवारें, भाले विशाल, जर्जरित वक्ष,
पर नत न भाल, थी रुण्डमाल चामुण्डा की ग्रीवावाली।
वह अश्रुवाष्प, भीषण गोले बरसे नभसे, थे मेघनवे—
पानीके, पर विष था उनमें, चपला बन बैठी थी व्याली।

था लगा राष्ट्र तब मुक्त—प्राय, क्षत—प्राय छत्र, क्षत राजदण्ड,
मिदनापुर—बलिया थे प्रतीक भारत की प्रतिभा के बल के।
श्रमिकों के दल, कृषकों के दल बादल समान शत झुण्डों में,
प्रतिरोध प्रदर्शन को उमड़े प्रतिनिधि विप्लव के अञ्चल के।

विद्यालय के शिक्षार्थीगण, जिनकी शिक्षा बस "युद्ध! युद्ध!"
रणकी भिक्षाकी त्वरा लिए दृग—सीपों में स्फुलिंग छलके।
नेता विहीन वह मुक्ति सैन्य, संयम विहीन पावस सरिता,
संयम—तट सीमित सागर—सा, प्रातर्प्रदीप मन थे खलके।

सब अस्त—व्यस्त शासन—प्रबन्ध, क्षत रेल ट्राम, पथ नष्ट-भ्रष्ट,
सब डाक-तार—साधन विनष्ट, लन्दन दहला, दिल्ली दहली।
अधिकार पुलिस की चौकीपर, स्वातंत्र्य-सैन्य तूफान तुल्य,
सन सत्तावन की सुप्त क्रांति सन बयालीस में फिर मचली।

शासन-प्रबन्ध निज हाथों में, गोरी सत्ता शत वर्षों में—
थी आज लुण्ठिता पद, मलिना ज्यों ग्रीषम की निर्जल बदली।
उखड़ी सत्ता, उखड़ा साहस, प्रश्वास तीव्र धृतिहीन हृदय,
संशयशीला थीं आशाएँ-गोरी सत्ता अब गली, गली।

कारा से निकला जयप्रकाश, तम-हृदय चीर ज्यों प्रात-सूर्य,
था असित गौर का गौर वर्ण, फिर भाग्य भारती का बदला।
अच्युत, अरुणा की अरुणाभा, थी नयी साँस जन-जन उर में,
निस्पन्द आंग्ल, सस्पंद हिंद, तूफान लिए सागर मचला।

पञ्जाब बङ्ग उत्तर प्रदेश, पूना, बिहार, निर्जीव देह,
ज्यों जाग उठी थी विप्लव की संदेश-वाहिका बन अचला।
था अतुल असीमित आंग्ल-सैन्य, दुर्भेद्य वज्र, निर्मम प्रहार,
पर आजादी की आंधी के आवेगों को किसने कुचला ?

उस ओर पूर्व में था सुभाष, आजाद-हिंद-सेना विशाल,
थी रुद्र रोष की जो प्रतिनिधि 'जयहिंद' नाद गुञ्जित अम्बर।
दिशि विदिशा घोष-'चलो दिल्ली' था एक लक्ष्य वह लाल दुर्ग,
कितने साम्राज्यों के अङ्कित उत्थान-पतन जिसके उर पर।

था चूम रहा भारत का तट यौवन अनन्त प्रतिभा बिखेर,
प्राची के प्रमुदित आंगन में था उदित दूसरा ज्यों दिनकर।
थी श्री सुभाष की उधर ज्योति, श्री जयप्रकाश इस ओर दीप्त,
थी रही परस्पर यश पसार, दो क्रांति-केतुएँ स्वर्णत कर।

कृष्ण पक्ष

विन्दु १
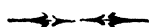
लन्दन की धरती काँप उठी, भूचाल हुआ, चर्चिल विचलित—
आश्चर्य चकित, माथा ठनका, "सौभाग्य भगे' दुर्भाग्य जगे।
आँधी-सी गोरी सेनाएँ झट सिंधुचीर, थी हिंद-तीर,
उतरी आँधी—सी बरसाती तोपों से गोले अनल पगे।

नभ से भी बरसे अंगारे टूटे तारे अथवा घन की—
दामिनियों के रसनाओं के, उजड़ी भू पर अनुराग (!) जगे!
उतरा अवनी पर दण्डपाणि, थी आर्यधरा, स्वातंत्र्य सैन्य,
कालों से लेना था लोहा, जय करने में दो मास लगे।

अग्नि स्फुलिंग थे शांत नहीं, थी दहक रही प्रति स्पन्दन में—
ज्वालामुखियों की मूक तपन, निर्दयता के पद के नीचे।
चर्चिल फुंकारे ज्यों फणीन्द्र, साम्राज्य-सचिव "लोहांगुलियाँ—
अजेर भारत पर सुदृढ़ हुई, तरु उखड़े शोणित से सींचे।

मानवता के वक्षस्थल को, वह गोर--दर्प, मस्तक सगर्व,
बढ़ता जाता था कुचल- कुचल निष्करुण निलज्ज नयन मींचे।
ज्वालाओं के थे ग्राम ग्रास, थे भस्मसात घर झोपड़ियाँ,
था वरुण न जो इस दावा के मुख से आजादी को खींचे।

शासन के कम्यूनिष्ट यंत्र, कुछ निहित स्वार्थ, कुछ प्राण-मोह,
थे गोर दमन के सहयोगी कापुरुष घृण्य देशद्रोही।
बन--गये गुप्तचर सत्ता के, मुद्रा--लोलुप अपनी माँ के—
उन्नत उज्ज्वल सिरके कलंक, श्रेयस जो पथ श्वानों को ही।

धनु-शरवाले कर में कङ्कण, निज पौरुष पर नारीत्व ओढ़,
पुंसत्वहीन-से रहे छिपे रे, लहँगों की छाया में ही।
स्वातन्त्र्य-पथ के ये रोड़े, ये अवरोधक तम-शैल तुल्य,
थे क्रांति-मार्ग पर खड़े हुए देशद्रोही, देशद्रोही।

आष्टी-चिमूर में गोर सैन्य, कामुक पिशाच, नारीत्वहरण,
पृथ्वी काँपी, पर्वत डोले, उबला रत्नाकर का पानी।
प्रतिहिंसा या प्रतिशोध जगा सह स्वाभिमान, यों मातृजाति-
पर सहन नहीं कर सकता है पैशाचिकता कोई प्राणी।

वह मिश्र राजनारायण था माँ का सुपुत्र, स्वर तीर तान,
ले लिये प्राण, नर--दानव को बन गयी मृत्यु वह नादानी।
उस सन्त वीर भंसाली ने जल--अन्न त्याग की प्रबल माँग—
"दण्डित हों क्रूर पिशाच सभी।" अघ-पोषक थी गोरी रानी।

पूंजीपतियों की धन-लिप्सा, भीषण अकाल, दुष्काल-व्याल,
टुकड़ा-टुकड़ा दुर्लभ्य किंतु सेठों के अन्नागार भरे।
दिशि-दिशि में भ्रष्टाचार प्रबल, दश गुना मूल्य, शत गुना मूल्य,
श्रीपतियों की सुकृपा (!) का सिर मानवता थी वरदान (!) धरे।

वे कर्मचारियों के दल भी "पैसा-पैसा, पैसा-पैसा"
नैतिकता के वक्षस्थल पर हा, थी विडम्बना चरण धरे।
शासन का सब पर वरद हस्त, सम्पूर्ण न्याय, सब-सब विधान-
थे व्यथा देखने-सुनने को हो रहे निपट अंधे-बहिरे।

शासन का निर्मम दमन चक्र था प्रगतिमान, आरक्त धरा—
जन-शोणित से, आरक्त सिंधु-छलछलती नदियों का पानी।
सम्पूर्ण हिंद था कुरुक्षेत्र, रण-यज्ञकुण्ड, नर-मुण्ड-खण्ड-
से पटी भूमि जैसे श्मशान, हँसता था दानव अभिमानी।

पूंजीपति, कम्यूनिष्ट अधम निज बंधु-रक्त में रंगे हाथ;
माँ के सतीत्व पद-रज में जिनने कि कुचलने की ठानी।
साम्राज्यों के संघर्षों को 'जन-युद्ध' बता निज जननी का—
करवाने रिपु से चीर-हरण, निकले करने को अगवानी।

मिथ्या आरोप

बिन्दु ३

वह जनता का आन्दोलन था नायक विहीन, आजादी की—
उज्ज्वल आकांक्षा का प्रतीक, प्रतिनिधि चपला की तड़पन का।
विक्षुब्ध सिंधु-सा ज्वार प्रबल, सीमा विहीन, सावन के घन—
जिस स्थल पर बरसे, प्रलय वहाँ, रिपु-तरु सरिता के तट का।

क्या वहाँ अहिंसा का संयम मुँह खोल जहाँ हिंसा-सुरसा—
शस्त्रों की रसना से आतुर पीने स्पन्दन जग-जीवन का!
प्रतिहिंसा की दुर्दम लपटें, जन-कोप-अनल घृत शत्रु-दमन,
आंधी के यौवन को छूकर अग्नि-बाण तिनका-तिनका।

था किंतु नहीं कार्यक्रम गांधीजी का या जन प्रतिनिधि—
कांग्रेस-समितियों के द्वारा सञ्चालित अथवा अनुमोदित।
थी किंतु तिरस्कृत मानवता फुंकार रही ज्यों कालिनाग—
जिसके मस्तकपर निर्-अंकुश निर्दयता के पद थे अङ्कित।

कांग्रेस या कि गांधीजी का सम्बन्ध न था इस हिंसा से,
यह तोड़-फोड़ था प्रतिक्रिया, था जो कि स्वयं ही सञ्चालित।
है मान्य न सत्य-अहिंसा में प्रतिशोध कभी, स्वीकार्य किंतु,
सविनय प्रतिकार प्रमत्तों का, जन-रक्त पान पर जो गर्वित।

था सत्य-अहिंसा से सम्मत सत्याग्रह का रण-कार्यक्रम,
शासन के प्रतिनिधि को जिससे था किया गया पहिले अवगत।
था मैत्रिपूर्ण सङ्केत प्रथम "हो त्वरित संधि सम्मानपूर्ण।"
यदि मान्य न यह, स्पष्टोद्घोषित सत्याग्रह के रण का अभिमत।

था रुग्ण नहीं नत रावणत्व, पा रहा गंध सत्याग्रह में---
दुर्बलता अथवा हिंसा की, दुर्मति की कब प्रज्ञा संयत?
था दोषारोपण बापू पर झूठेपन का औ' हिंसा का,
जो हरिश्चन्द्र, प्रल्हादों का संस्करण बुद्ध का नव संस्कृत।

था घोष--'करो या मरो' किंतु था नहीं अर्थ इसका हिंसा,
था अर्थ-"सफल हो संधि न यदि सत्याग्रह के पथ पर उतरो।
"यह घृण्य दासता सह्य न अब, केसरिया पट पहिने निकलो,
सविनय प्रतिकार, अवज्ञा में यदि काल भिड़े तब भी न डरो।"

आरम्भ संधि--चर्चा न हुई, साम्राज्य क्रुद्ध, थे बद्ध बुद्ध,
कह सके न नेता जनता को किस भांति प्राण उत्सर्ग करो!
थे सब जननायक कारा में, नायक विहीन विप्लव--प्रवाह,
था कौन कि कहता आंधी से "मत यों स्फुलिङ्ग बिखरो, बिखरो।

यह मिथ्या दोषारोपण क्यों! उस सत्य-सूर्य पर हिंसा के---
आरोपण का कीचड़ उछाल, कर बैठे वो निज तन मैला।
कर कारा-बद्ध अहिंसा को, ज्वालाओं को कर से सुलगा,
मरणोन्मुख शलभ मचल बैठा निज नाश-बाहु फैला--फैला।

शशि की शीतलता को ठुकरा शस्त्रास्त्र-गर्व, वह राज्य-दर्प-
झपटा चिर शांत तपस्या पर, कन्दर्प रुद्र से आ खेला।
नव क्रांति, जागरण की वेला, तमचर उलूक या प्रात-दीप-
अस्तंगत जीवन के क्षण में करता प्रभात की अवहेला।

कांग्रेस विरोधी प्रचार

बिन्दु ४

करते थे देश--विदेशों में मिथ्या प्रचार, शेषावतार--
ज्यों शतमुख से था कोस रहा, थी मुक्त भावना जो उज्ज्वल।
"हिंदू-मुस्लिम में है न ऐक्य, सहमत न सिक्ख, सम्पूर्ण हिंद--
की जन-प्रतिनिधि कांग्रेस नहीं, है सम्प्रदायगत अगणित दल।

"सब जाति धर्म के स्वत्व नहीं रक्षित उसमें जनतन्त्र हीन,
है जहाँ एक--अधिनायकत्व, जनतांत्रिक भाषा केवल छल।
करने को युद्धोद्योग विफल, संगठन गुप्त, हिन्सात्मक जो,
कांग्रेस चाहती अपना ही एकाधिपत्य पशुबल के बल।

भारत के भावों के प्रतीक सब पत्र बन्द थे अंध बंध;
कर सकती व्यक्त न थी माँ आकुलता, वाणी कल्याणी।
"है भारतीय जनता अयोग्य सौहार्द्रहीन दुर्भावयुक्त,"
शासन तब किसको दे जाते वे दूध--धुले (!) गोरे ज्ञानी!

परदेशों ने समझा विमूढ़ उस भारत को जो जग--गुरुत्व--
करने में अब भी था समर्थ, शुचि आत्मतत्व का विज्ञानी।
जिसके सम्मुख, विज्ञान--भूत, नव अन्वेषण संहारात्मक,
तत्वात्म-विमुख नश्वरता का यह अल्प ज्ञान भरता पानी।

कार्यक्रम जिसका खुला पृष्ठ, शशि सदृश शांत, रवि तुल्य स्पष्ट;
था गुप्त सङ्गठन का उस पर हिंसात्मक गति-विधि का लाञ्छन।
सहमति विरुद्ध 'रण-रत[१]' घोषित "है हिंद साथ" मिथ्या प्रचार,
"कुछ उपद्रवी जन को तजकर रण-सहयोगी जन साधारण।"

१ यूरोपीय महायुद्ध में भारत को स्वेच्छा से सम्मिलित बताया गया था।

वह राष्ट्र, विदेशी शासन के पद के नीचे जो दबा हुआ—
कब साथ हुआ जिसके यश के शशि पर अंकुश-खग्रास ग्रहण !
साम्राज्य सैन्य में भारतीय थे क्रीतदास, इच्छा न किन्तु—
इस देशद्रोही दुष्पथ का, थी मात्र बुभुक्षा ही कारण।

सञ्चालक जिसके थे न मुक्त, आदेश--हीन थी जब जनता—
था क्रोधावेश कि पशुता ने निश्शस्त्रों पर सङ्कट ढाले।
कड़ियों में जकड़ा हुआ राष्ट्र, बंदी मृगेन्द्र, अवरुद्ध रोष,
थे फूट पड़े प्रतिहिंसा बन चिर दलिता धरती के छाले।

युग-युग से प्यासा यह चातक—
था साभिलाष—"बरसें पयोद।"
युग की सञ्चित आशाओं पर
अम्बर ने अङ्गार डाले।

× × × ×

तब कैसा यह दोषारोपण ?
भूखा न अन्न, प्यासा न नीर—
माँगे शूलाहत यदि चीखें—
मुख पर 'विधान' के हो ताले !

× × × ×

जिस निर्-अंकुश पशुबल की,
'बीभत्स' भर्त्सना करता।
जिसकी कि रक्त-अञ्जलि से,
इतिहास अर्चना करता।

× × × ×

कुत्सित नृशंष यश पाता,
"यह दिग्विजी आता है।"
दुर्बल-कर-मुख पर बंधन,
हा, दलित दला जाता है।

त्रयोदशोर्मि

कृष्ण मंदिर

बिन्दु १

वह उन्नत अहमदनगर-दुर्ग, चिरपरिचित इतिहासों का,
उस शाह-सपूत शिवाका पौरुष-प्रतीक, काँग्रेस जहाँ पर बन्दी।
माँ की आशा की जो कि केन्द्र, प्रतिनिधि कोट्यावधि जन की,
स्वातंत्र्य-भावनाओं की-अकलुष वाणी, शतदल की ज्योंकि सुगंधी।

प्रस्तावित जिसने की विमुक्ति, अधिकार माँगना अघ था,
निर्-अंकुश शासन-सम्मुख, सिर नग्न खड्ग सत्ता होती है अंधी।
वह आगाखान-महल विशाल, दृढ़ सैन्य-नियंत्रित,
वर्जित सीमा में जोकि अवस्थित उन्मन अशांत जैसे नैतिक अपराधी।

जिसकी प्रताड़ना को कठोर, थी घेर घेर कर लायी,
विदिशाओं से ज्यों व्रजपर, हो वरुण कुपित, दल के दल बादल, आंधी।
कोट्यावधि पलकें निर्निमेष, टकटकी लगाए आकुल थीं,
उसी पथ पर बिखरी पथरी, मानों कि वहाँ बंदी दुनिया आंधी।

नभ मण्डल पर थे क्रुद्ध मेघ, "मत बरसो अङ्गारे यों,
घन आंधी! शांत रहो तुम।" था शांति-दूत वह राष्ट्र-देवता गांधी।
"चिर अमल अहिंसा-सत्यपंथ, आजादी के वलि-पथके बंधन,
लघु कंकर-कण्टक, श्रम स्वल्प जेय, क्या शक्ति-अपव्यय श्रेयस?

मिटने वाले है जो कि पाप, यह दमन-अनल-चिनगारी,
क्षण भंगुर बुझनेवाली क्यों दोड़पड़ी री, क्रांति कुमारी! सकलश?
"क्यों निकल त्वरा इतनी पयादे? क्या-समझे मिथ्यापन का,
कीचड़ मुझको ढकदेगा? धोने आये? चिर सत्य-अहिंसा अकलुष।

"ठहरो-ठहरो' मारुत अगस्त ! मत करो एक ही अञ्जलि,
इस अतल दमन-सागर की, मुक्तान्वेषण भी करो, क्रोध पर अंकुश।'
बापू का पावन वाम अङ्ग थीं कारागृह में 'बा' भी,
ज्योंनारि-धर्म नर-सहचर छाया समान, रश्म्यर्क, सुमन सह सौरभ।

थे दक्षिण कर प्रिय महादेव, श्री प्यारेलाल, सुशीला,
वरदान लिए सेवा का, तत्पर सदैव, वर कौन छोड़ता है कब ?
विधि लिखा ग्रहण रवि के ललाट, दुर्दैव खड़ा था सन्मुख
मावसका घन-तम लेकर, घनघोर मेघ, कड़कड़ा उठा सहसा नभ।

हो गया अचानक वज्रपात,
प्रिय महादेव, पर निष्ठुर ।
आघात नियति का दुस्सह,
धृति-दृग-प्लावन, हा, सकल सृष्टि थी निष्प्रभ।

तमसो मा ज्योतिर्गमय

बिन्दु १
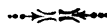
साकार अहिंसा, प्रेम, सत्य—
बापूका कृशतन धर कर अवतरित जो कि वसुधापर।
मिथ्यापन औ' हिंसा उसपर आरोपित ।
आक्षेप—"आंग्ल-सत्ता विरुद्ध,
जापानी रिपुओं से मिल है आक्रामक आयोजन—
गांधीजीका, सब कुछ कांग्रेस-समर्थित।"
सुन-सुन कर यह मिथ्या प्रचार,
बापूका निश्छल अन्तर था स्पष्टी करण—समुत्सुक
पर मौन भङ्ग था नियम-विरुद्ध, विवर्जित।

१—महादेव भाई देसाई

होते जब जन साधन विहीन
मानव—समाज के सम्मुख नैर्मल्य सिद्ध करने में,
तब एक मात्र प्रभु–पद होते आधारित।
"यदि जन न, जनार्दन के समक्ष,
मैं अपना अकलुष अन्तर, जो सत्य–अहिंसोद्भासित—
मारुती तुल्य लो वक्ष चीर कर रखता।"
इक्कीस दिवस जल–अन्न त्याग,
करने विपक्ष बाधित या प्रतिपादित सत्य—अहिंसा—
का था न यत्न, था सत्य अग्नि–पथ वरता।
करता विपक्ष को वह न बाध्य–
अनुचित प्रभाव से अपने, जो सत्याग्रही, कभी भी।
निज पक्ष स्वच्छ पर वह सदैव ही रखता।
सद्भक्त अहिंसक ज्योति-स्तम्भ।
तमसे प्रकाश के पथपर जग—जीवन को लेजाने—
जलता प्रदीप, अवनी पर अरुण उतरता।
अनशनका वह निर्णय कठोर।
थी किसे कल्पना—ऐसी होती है अग्नि—परीक्षा—
उस जीवन की, जो कोटि प्राणका जीवन।
रहगया विश्व स्तम्भित, विमूढ़।
"जिससे प्रकाश की आशा रखता जग, वही बुझेगा!
उदयोन्मुख क्या फिर निशिका कालापन!
चिंतित आयुर्वेद, देह–शास्त्र।
निर—अन्न, क्षीणतर काया दुर्बलता उत्तर—उत्तर।
गति–स्पन्द मंद, संशययुत जगका स्पन्दन।
"हो जाए किसक्षण वज्रपात।
संशयशीला कोट्यावधि आकुल प्राणों की आशा।
कुविचार ज्वार, नव शङ्का प्रति नूतन क्षण।

पीड़ा के वे क्षण अति असह्य ।
"अब डूबी, डूबी नैया, वह तिरी, तिरी, फिर डुबी ।"
रवि अस्त–उदय, था दृश्य जयद्रथ वधका ।
इक्कीस दिवस हो गये पूर्ण ।
थे नव्य प्राण जन–मान में, रवि शशि में नयी प्रभा थी ।
निशिचर समक्ष था अविचल पद अङ्गदका ।
वे सब तमचर जन थे निराश,
थे जो कि समुत्सुक—"रविकी हो जाएँ विलय विभाएँ ।
हो नग्न नृत्य भारत पर फिर दुर्मदका ।"
थी अग्नि–परिक्षा सफल पूर्ण,
ज्वाला में तप कुन्दन की अधिकाधिक निखरी आभा,
चन्द्रिका ज्यों कि पावस-जल स्नात शरद की ।
हो गये तिरोहित प्रलय–मेघ ।
निर्––अभ्र गगन भारत का, लन्दन का मुकुट असित था ।
हो ज्यों कि दुखद नलिनीको सुख शतदल का ।
करता न दृष्टि–भ्रम पाण्डुरोग ?
—ज्यों पाण्डु––रोग का रोगी पीताभ देखता जगको––
उस भांति हिंस्र लगता जग हिंसकदलको ।
थी "पाप छीपाने का उपाय"
यह अग्नि––परिक्षा, गौरी सत्ता के सकलुष दृगों में ।
दिग्भ्रांत लक्ष्य प्राची, तट अस्ताचलका ।
था किंतु प्रहर्षित दिग्दिगन्त ।
उपवास––सफलता पर थे सब देश––विदेश विमोदित ।
ऊर्मिल सागर- नदियों का पानी छलका ।
रवि–अवसानेच्छुक राज्य–दर्प ।
निश्चय––सा सत्ता को था अनशन से तन तजने का
बापूजी के । फिरभी दृढ़ लोहाङ्गुलियां ।

सविनय भारत, साग्रह विदेश–
"इस संकट क्षण में छोड़ो शन्तिप्रिय गांधीजी को।"
रक्षार्थ प्राण जग प्रार्थी, श्रद्धाञ्जलियां।
"मर जायँ भले गांधी सहर्ष।
कारा के पट न खुलेंगे, होगी न शृङ्खला ढीली।
हैं संग्रहीत चन्दनकी चिता—लकड़ियां।"
होता न विफल पर सत्य-धर्म।
प्रल्हाद होलीकाञ्चल से शतदल—सा हँसता निकला।
यम चकित, स्तब्ध, "ठग गया मृत्युको छलिया।"

राष्ट्रमाता कस्तूरबा

बिन्दु ३

जीवन की साथिन का विछोह।
दुर्दैव जला करता है सत्पुरुषों की सुख—श्री पर।
जब मिले योग, करता प्रहार है अपना।
हैं कुटिल ढूँढते सदा छिद्र।
अवसर का लाभ उठाते रिपु, चोर और दुर्जन जन।
'बा' अबल देख-"बस अब बापूको ठगना।"
करते जीवन का वहन भार,
—बा थकी हुई, तन जर्जर, कोट्यावधि आशाओं की—
टूटी कुटिया, दृग मुक्ति—ज्योति का सपना।
'जो हुआ उदय, वह हुआ अस्त।'
इस नियति—नियम निष्ठुर ने लूटे बापू, पर बा को—
सुत महादेव को था न अकेला रखना।
वे दो समाधियाँ पास—पास।
इस ओर पुत्र सोया है, सो रही उधर है माता—
निद्रा—निमग्न। वत्सलता विकल अकेली।

आविल लोचन, करुणार्द्र विश्व ।
रो रही विकल मानवता, रो रहा हृदय बापू का ।
दृग---मञ्जूषा---उन्मुक्त मुक्ता---थैली ।

वह, ताज-महल इतिहास-वित्त ।
उस मुक्ता---जड़ित कला में है निहित न जिसकी महिमा,
थी किंतु किसीकी वहां प्रणयिनी खेली ।

यह आगाखान-महल विशाल ।
जो राष्ट्र---पिता की कारा, बा की समाधिकी लेकर---
सौभाग्य-कीर्ति गर्वित जो रवि से उजली ।

उन दो समाधिपर दो प्रदीप---
प्रति संध्या को जलतें थे मृदु मन्द हास बिखरते,
सन्देश पुज्य--"तमसोमा ज्योतिर्गमय ।"

बापू के उरके प्रेम---पुष्प ।
उन दो समाधियोंपर नित बापू जा पुष्प चढ़ाते ।
"मोहाभिभूत !" निर्मोह प्रेम वह अक्षय ।

वे लोचन करते थे न श्राद्ध ।
उन दो कायिक स्मृतियों का, जो थी समाधि में सोयी ।
जो मनुज-धर्म उत्सर्ग राष्ट्र-पद सविनय ।

देही अक्षर, तन हन्यमान ।
उस अमर तत्व का बापू करते थे श्रद्धाराधन ।
कर्तव्य-पन्थ कर गया जो कि जोतिमर्य ।

सब राष्ट्र चाहते थे विमुक्ति ।
अमरीका के विद्वज्जन, कुछ सज्जन लन्दन के भी,
रशियादि देश "गांधी विमुक्त हों" इच्छुक ।

"हो भारतीय गतिरोध दूर।"
रुजवेल्ट[1] स्वयं अभिरुचि से थे सतत संधि–चर्चा–रत,
प्रतिनिधि फिलिप्स पाये न पहुँच बापू तक।
थी आंग्ल–कुटिलता दर्पपूर्ण।
हो संधि अभिष्ट न जिसको वह वक्र पन्थ ही गहता।
विश्वास पूर्ण शस्त्रों पर, क्यों जाए झुक।
"होगा न मिलन से अर्थ सिद्ध।
यदि खुले द्रोह[2] का गांधी दायित्व न निज पर लेते,
हिंसा न त्वाज्य, सब मिलन व्यर्थ हैं तबतक।
'बाधक विमुक्ति[3] में है अनैक्य।'
यह एक मन्त्र था सीखा वह विग्रह––निति विशारद।
"हैं दल अनेक जो प्रथक स्वत्व-अभिलाषी।
'मुस्लिम न मात्र, हरिजन, सवर्ण,
ईसाई, सिक्ख विविध दल, देशी नरेश, श्रमजीवी,
सब अल्प संख्या हैं प्रथक।" तर्क थी बासी।
बापू थे अहरह यत्नशील––
ले आड़ न न पाए शासन अन्––ऐक्य, विविधदल, मतकी।
"प्रियवर जिन्ना! मिल जाएँ काबा-काशी।"
जिन्ना तक पहुँचा पर न पत्र।
स्वीकार्य न था शासन को–विष-सिन्धु पटें, मिलजाएँ––
दो तट समान दो संस्कृति प्रेम––पिपासी।
अधिकाधिक स्थितियोंका प्रभाव-
था बाधित करता जाता––"छूटें गांधी नेता सह।
कर मुक्ति-प्रसव औ, दमन-गर्भ की झिल्ली?"
सत्ता करती थी सतत यत्न।
"मिल जायँ न हिन्दू–मुस्लिम पश्चिम औ' पूर्व दिशा–से।
चिर रहे हरित यह जाति-भेद-विषवल्ली।"

१ अमेरिका के राष्ट्रपति। २ अगस्त क्रांति (१९४२)। ३ भारतीय स्वतन्त्रता।

निशि भर ही क्रीड़ारत उलूक।
प्राची के पट खुलने की पावन वेला के क्षण—में—
ज्यों प्रात-दीप, लन्दन सह दहली दिल्ली।
अनिवार्य लगी गांधी विमुक्ति।
"वह कौन संधि-विधि जिससे रह जाए दर्प सुरक्षित।"
थी रही झाँक दिशि-दिशि खिसयानी बिल्ली,
झट प्रकृति हुई तब कृपापूर्ण।
बन जाता अशुभ कभी शुभ, बापू थे रुज-शैयापर।
था सत्ता को अनुकूल सहज शुभ अवसर।
था रोग न, शासन को सुयोग।
झट स्वास्थ्य-लाभ मिस छोड़े, रह गया दर्प सत्ता का।
था अहङ्कार मन ही मन अवनत पदपर।
था 'पञ्चगनी[1]' अब पुण्य तीर्थ।
बापू की परिचर्या में थे पञ्च भूत समुपस्थित,
बनगया मलय 'बापू की जय' का अनुचर।
'जय-जय' ध्वनि गुञ्जित वृहद् व्योम।
"चिर जीओ मानवता की पावन उज्वलतम प्रतिमा—
प्रभु प्रतिनिधि, यमका विधान हो निस्वर।

गांधी-जिन्ना-वार्ता

बिन्दु ५

थी स्वास्थ्य-प्रगति संतोषपूर्ण।
बाहर की गति-विधि से थे बापू अब अधिक निकटतर।
पर अन्धकार था प्रसरित भावी पथ पर।
था देख रहा निष्पलक राष्ट्र।
कब खुलें अधर बापू के, कब नयी चेतना जागे।
यह मरुस्थली कब सुने मधुर 'कल-कल' स्वर।

१—पूना के समीप एक प्राकृतिक उपचारस्थल।

''भारत-छोड़ो के मुक्त तीर।
फिरलें निषङ्ग में अपने सेनप निज।'' सत्ता बोली।
''वह अनल-नेत्र हो जाय बन्द'' इच्छुक स्मर।

बापू का निश्चय वज्र-शैल।
अङ्गद-पद वत सत्पथ से स्वीकार्य नहीं था डिगना।
हटते न धीर निश्चय पे पीछे तलभर।

संभव शासन से थी न संधि।
''जब तक नेतागण बन्दी, अधिकार संधि—चर्चा का—
मुझको न रहा।'' बापू की निश्छल वाणी।

''भारत-छोड़ो'' प्रस्ताव शुद्ध।
उसमें न दोष की छाया शशि में कलङ्क जितनी भी।
है मुक्ति-मान्य, यदि मुक्ति चाहता प्राणी।

''स्वातन्त्र्य-मांग औचित्यपूर्ण।
यदि पाप न, प्रायश्चित की ये दुस्सम्मतियां कैसी ?
तज मधुर क्षीर क्यों हंस पिएगा पानी !''

पर-स्वत्व-हनन अपराध पाप।
निज अधिकारों की मांगें कर्तव्य पुण्यतम, अकलुष,
जो यत्न--शून्य, कर्तव्य--पतित अज्ञानी।

श्री राजाजी[१] का सत्प्रयत्न।
थी प्रथक राष्ट्र अधिकारों या प्रतिनिधित्व की मांगें,
श्री जिन्ना की, चर्चा का विषय बनाया।

राजाजी को दायित्वपूर्ण।
अधिकार संधि—चर्चा का, 'सर्वे भवंतु सुखिनः
योजना पुण्य। नैर्मल्य उमड़ता आया।

'हो विलय साम्प्रदायिक अनैक्य।'
बापू की प्रबलाकांक्षा ''भाई--भाई मिल जाएँ।
चिर स्नेहपूर्ण हो एक हृदय, दो काया।

१-श्री राजगोपालाचार्य

बंधुत्व—याचना के निमित्त
फैलाए निर्मल उरकी शुचि प्रेम—भावकी झोली,
लघु मनुज—गेह वह राष्ट्र देवता आया।

बापू सविनय जिन्ना समक्ष।
"कह पायँ विदेशी शासन 'हैं योग्य न भारतवासी'
क्या यह कलङ्क है शोभनीय आरोपण ?"

हिन्दू से मुस्लिम चतुर्थांश।
जिन्ना का अदम दुराग्रह "शासन में सम प्रतिनिधि हों,
अस्पृश्य, सिक्ख, हों प्रथक राज्य[1] प्रतिनिधिगण।"

अग्राह्य माँग दुर्भावपूर्ण—
"क्रमशः कांग्रेसी—मुस्लिम हों राष्ट्राध्यक्ष, सचिव या।
'हिन्दू अवर्ण हों प्रथक' माँग यह मान्य न।

"दो राष्ट्रों की कल्पना खेद्य।
पर जनमत को यदि स्वीकृत 'हो प्रथक्करण' में सहमत।
है किन्तु नहीं दो हिन्दू अथवा हरिजन।"

"मुस्लिम बहुमत के दो प्रदेश
जो 'पाकिस्तान' कहाएँ, हो हिन्द—मध्य गलियारा
शृङ्खला तुल्य।" थी मांग नितांत असम्भव।

जिसको न संधि होती अभिष्ट
सुरसा के मुख-सी उसकी मांगें बढती ही जाती
करने विपक्ष का हठ से पूर्ण पराभव।

अवलोक विपक्षी को विनम्र
असुरत्व कल्पना करता देवों में दुर्बलता की
उसको न ज्ञात शिव-गरल-पान का गौरव।

बापू लौटे निष्फल प्रयास।
उस प्रेम मूर्ति ने भ्रम में था निर्जल जलद निचोड़ा।
था हृदय हीन, ममता विहीन जीवित शव।

स्वप्न रवि, तम में समता,
स्वप्न प्रस्तर में ममता।
शूल मधु—सँर में पालो—
स्वप्न कलियों की क्षमता।

[1] देशी राज्य।

चतुर्दशोर्मि

भारत की वाणी विजयलक्ष्मी

बिन्दु १

भारत विरुद्ध शासन द्वारा था 'युद्ध-यत्न-बाधा' का या—
योग्यता विहीनता का प्रचार, परदेशों में शतमुख से।
शेषावतार।

भारत की वाणी पर ताले, बन्धन में जकड़ा था, न खोल—
सकता था अधरों के किवाड, श्रुति सुनती थी सब दुख से।
दासत्व भार।

सह—सह कर परदेशी प्रहार, माँ का वक्षस्थल था जर्जर।
जिसके तन शत-शत बिच्छु-दंश सोपाए कैसे सुख से?
दुख दुर्निवार।

थे अन्य राष्ट्र समझे इसको विग्रह विषादमय कलहस्थल,
जिसके कि पुत्र कुछ को तजकर, हैं दुराग्रही, अज्ञानी।
पशुवत् गँवार।

भ्रामक प्रचार ने वस्तुस्थिति पर डाल रखा था पर्दा—सा,
क्या ज्ञात कि "कितनी निर्मम है वह क्रूर विदेशी घानी।"
था अन्धकार।

उस अन्धकार में एक किरण पहुंची भारत की ज्योतिमयी,
जग के दृग में थी चकाचौंध, विजयालक्ष्मी कल्याणी,
थी शौर्य मूर्ति।

"है विश्व—बंधुता भारत के उज्ज्वल अतीत की शुभ थाती,
जग-गुरु गांधी जिसके प्रतिक।" बोली ऋषियों की वाणी।
युग-गिरा—पूर्ति।

"था हिन्द प्रेममय सुधा-सिंधु, है किए विषैला जिसे आज—
अंग्रेजी शासन का भुजङ्ग, पर-दुख-प्रमुदित अभिमानी।
कौटिल्य धर्म।

"है सभी विरोधी यह प्रचार अज्ञान–कलह–विष आदिक का,
देखें भारत का आत्म—ज्ञान पाश्चात्य राष्ट्र विज्ञानी,
सद्धर्म-मर्म।
"अंग्रेजों का छल–छद्म-राहु है ग्रसे हुए भारत–मयङ्क,
दासत्व––कालिमा से आवृत, भारत––भाग्य––दिवाकर।
कूपस्थ नीर।
"सम्पूर्ण हिन्द है बना हुआ बस एक वृहत्तर कारागृह,
प्राचीरों में अवरुद्ध ज्योति, प्रतिबंध श्वास–स्पन्दन पर।
बन्दी समीर।
"है जहां क्षुधानल धधक रहा जिसको शासन ने सुलगाया,
जिसमें कि बङ्ग–भू झुलस रही दुर्लभ्य अन्न का दाना।
दुष्कृत जघन्य।
"शिशु बिन्दु दूधको तड़प रहा, माँ दो आँसू बरसा देती.
भूखे तन के स्तन पय विहीन वह दुख किसने पहिचाना ?
पशु, राज्य, वन्य।"
सान्फ्रांसिस्को में आयोजित संयुक्त राष्ट्र का अधिवेशन,
अंग्रेजी शासन की न किन्तु थी भारतीय प्रतिनिधि वह।
सत्ता–प्रमाद।
प्रशांत सागर की लहरों ने पहिचाना हिन्द महासागर,
स्वातन्त्र्य–घोष से उद्घोषित था जो कि तरङ्गित अहरह।
था शङ्खनाद।
संयुक्त–राष्ट्रदल शासकीय, जन–प्रतिनिधि वैधानिक न मान्य,
"परतन्त्रों की आजादी की की जाए सही समीक्षा।
निश्छद्म स्पष्ट।"
वह उदयाचल की प्रतिनिधि थी बोली कि सिंहनी थी गरजी—
"अन्यथा एशिया का यौवन माँगेगा रणकी भिक्षा।"
ज्वाला अदृष्ट।
"श्रुति–मधुर मुक्ति के आश्वासन सुन–सुन करतो पकगये कान,
घनकी छाया में तो न तुष्टि, चातक चाहेगा पानी,
दो स्वाति बिंदु।

"यदि मित्र-राष्ट्र निष्पक्ष, शुद्ध, है पूर्व कसोटी एक मात्र,
हो विदा छत्र—छाया समेट भारत से गोरी रानी।
हो उदय इंदु।"

कांग्रेस कारा-मुक्त

बिन्दु ?

थी रक्तपूर्ण रणकी समाप्ति, था मित्र--राष्ट्र का विजय-घोष,
पशुता का ताण्डव नग्न नृत्य, जर्मन—वसुधा थी मरघट,
शांताग्निखंड।

था युद्ध कि नर—संहार अथक, जय—घोष कि वसुधाकी कराह ?
था शौर्य कि निर्मम निर्दयता ? शशि आज बना था विष घट।
विष ब्रह्म-भण्ड।

बनगया खण्डहर सकल विश्व, लपटों में झुलसित वृहद् व्योम,
शव-रुण्ड-खण्ड-मण्डित धरती, सर-सरिता-सागर-शोणित।
था जल न शेष।

दानवता को जलकी न प्यास, उसको तो शोणित ही वाञ्छित,
वह जाने तृप्त हुई कि नहीं, नर—भक्षी क्षुधा सुतोषित—
पशु-उदर-देश ?

था रण समाप्त, शोणित-प्यासे शस्त्रों की 'खन्-खन्' स्तब्ध प्राय,
अणु—बम से भस्मित 'हिरोशिमा'[१] श्री शांति दृष्ट मरघट की।
ताण्डव समाप्त।

स्थिति में स्वाभाविक परिवर्तन, फिर चली संधि की चर्चाएँ,
'कांग्रेस मुक्त हो' की ध्वनियाँ आ भूमि—गगन—सागर—तट—
हो उठी व्याप्त।

श्री वेवल वायसराय चले लन्दन को, करने को विमर्श—
"विक्षुब्ध हिन्द की स्थितियों पर किस विधि प्रशस्त अब पथहो,
रथ प्रगतिमान ?"

१ जापान का एक प्रदेश।

उन नीति निपुण राजाजी ने की संधि योजना भी प्रस्तुत,
लीगी प्रतिनिधि[1] को जो कि मान्य, जिससे कि संधि का हो अथ।
जागे विहान।

"कांग्रेस-लीग के सम प्रतिनिधि शासन-परिषद में" उभय मान्य,
साम्राज्य—सचिव थे मंथनरत, श्री वेवल, भारत—मन्त्री,
कौटिल्य मूर्ति।

"राष्ट्रीय न वह सरकार कभी कांग्रेस न स्वीकृत करे जिसे,
जबतक नेतागण हैं बंदी।" बापू—वाणी जन तन्त्री।
युग-धर्म-पूर्ति।

अंतर्राष्ट्रों की गति—विधि का, राष्ट्रीय क्षुब्धता का प्रभाव—
कारा के 'खट—खट' खुले द्वार, कांग्रेस जेल के बाहर।
स्मित दिग्दिगंत।

जनता के आतुर नयन लगे नेताओं पर ज्यों शशि—चकोर,
"कब नव विहान, कब नव्य पंथ, कब जागे कोकिल का स्वर?
कब नव बसंत!

घटना चक्र

बिन्दु ३

वे आंग्ल—सैन्य के भारतीय, जापानी द्वारा पराभूत,
'आजाद हिन्द' के जो सैनिक, थे लाल किले में बन्दी।
विक्षुब्ध देश।

श्री नेताजी की राष्ट्र—भक्ति, उत्सर्ग-भावना के प्रतीक,
अरुणोदय की मुख—कांति, नयन—अल्हड़ यौवन मकरंदी।
शिव-शौर्य शेष।

स्वातंत्र्य—दीप पर शलभ तुल्य जो आहुतियाँ देने मचले,
था आंग्ल-दृष्टि में 'देश-द्रोह' सत्ता शासन-मद-अन्धी।
'अभियुक्त-वेश'।

[1] श्री लियाकतअली।

बन वीर जवाहर अभिभाषक, प्रस्तुत सत्पक्ष-समर्थन को,
श्री भूलाभाई देसाई, सन्न्याय—ज्ञान था बन्दी। ।
अवतरित शेष ।

"जब आत्म-समर्पण के क्षण में जापान-सैन्य को सौंप चुके—
अंग्रेज कि जिनके जीवन को, यह 'देश-द्रोह फिर कैसा ?
यह न्याय धन्य ।

"परदेशी सत्ता के विरुद्ध परतन्त्र राष्ट्र का परम धर्म—
जैसे हो बन्धन करे नष्ट, हो सत्य—अहिंसा हिंसा—
है सभी पुण्य ।

थे लाल किले पर लाल—लाल तरुणाई के लोचन सरोष,
"करवट लेता है किधर ऊँट ?" हो रहा न्याय का अभिनय ।
था सिद्ध दोष ।

श्री शाहनवाज, ढिल्लन, सहगल, लक्ष्मी कि क्रांति की चिनगारी,
नेताजी के बलिदानों के थे मूर्तिमान जो परिचय ।
था रुद्र रोष ।

न्यायाधिप द्वारा थे दण्डित, सर्वोच्च सैन्यधिप द्वारा पर—
था मुक्ति-दान, अन्यथा स्यात हो जाती जटिल समस्या ।
दुर्दम्य क्रांति ।

सत्ता परिचित थी यौवन के चिर क्षुब्ध सिंध के ज्वारों से,
प्रलयङ्कर आंधी से सचेत, जीवन की शेष तपस्या ।
गत दर्प-भ्रांति ।

लारेंस शिष्टदल इधर चला, फिर नव्य संधि-चर्चा करने—
शांतिप्रिय भारत के समक्ष, जो सदा संधि को तत्पर,
जिसमें सुनीति ।

शासन-परिषद् में प्रतिनिधित्व का प्रश्न जटिल था उलझनमय,
मुस्लिम प्रतिशत छब्बीस, प्रथम थे त्रतीयांश आसन पर ।
थी भेद-नीति ।

थी नहीं किंतु श्री जिन्ना की संतुष्ट महत्वाकांक्षाएँ,
सम प्रातिनिधित्व पर जमा हुआ छलपूर्ण हृदय पाषाणी,
दुर्योधनत्व ।

समदर्शी कांग्रेसी जन को, स्वीकार्य न विषम व्यवस्था थी,
था स्पष्टोत्तर "है मान्य नीति जो जन–जन–हित कल्याणी,
जिसमें कि तत्व।"
दधि-मंथन पर निकला घृत भी जिन्ना की चिंता किए बिना -
थे वीर जवाहर आमंत्रित "लो करो राज्य-सञ्चालन -
सर्वानुकूल।"
थी सर्वदली परिषद योजित, जब तक बनजाए नव विधान—
थी 'अस्थायी' संज्ञा जिसकी, था किन्तु नहीं नभ निर्धन,
पथ प्रखर शूल।
जिन्ना की प्रतिहिंसा जागी शत नागिन की फुङ्कारों–सी,
'प्रत्यक्ष कार्यवाही १' का था उद्घोष मनुज-संहारक।
जग उठी आग।
पट गयी हिन्दुओं के शव से कलकत्ता की सड़कें, गटरें—
बन गयीं नालियां शोणित की, ज्वालाएँ पहुँची नभ तक।
हा, हा, अभाग!
शत–शत सहस्र नर-मुण्ड-खण्ड जन रक्त फाग के थे प्रतिक,
कलहाग्नि प्रखर स्फोटक स्फुलिङ्ग सम्पूर्ण राष्ट्र पर बिखरे।
धू-धू कृशानु।
गढ़मुक्तेश्वर, मेरठ, बिहार थे प्रतिक्रियावश माद-अन्ध,
दिशि-दिशि में हिंसा नृत्य-निरत रुधिराभ हिंस्रमुख निखरे,
रक्ताभ भानु।
सम्पूर्ण विश्व की घृणा ढली इस दैत्य कृत्य पर, पशुता पर,
पर सूत्रधार श्री जिन्ना की निकली न 'शांत!' की बोली।
प्रेरणा कौन?
'वध तीन एक के बदले में,' था 'पाक धर्म' फुङ्कार रहा,
नौआखाली, हिन्दुत्व सङ्ग, इस्लाम खेलता होली।
लेखनी मौन।
था महासभा का चार वर्ष पश्चात नियोजित सम्मेलन,
कृपलानी राष्ट्राध्यक्ष पूज्य, जन–जन–मन नूतन आशा।
नूतन प्रकाश।

१ डायरेक्ट एक्शन

स्वीकृत 'पद-ग्रहण' हुआ जिसमें, थी विधान-परिषद प्रस्तावित,
"सत्ता-सम्पन्न, स्वतन्त्र पूर्ण," जिसके विधान की भाषा—
''सम्यक् विकास।
"है भारत का अविभिन्न अङ्ग देशी राज्यों का वृहद् क्षेत्र,
निर-अंकुश, प्रतिक्रियावादी हैं नहीं नृपति जन-प्रतिनिधि।
साम्राज्य-यंत्र।
"गत जाति-भेद सब जन वयस्क कर पाएँगे निज मत प्रदान,
चालीस कोटि हैं स्नेह बिन्दु! होगा समता का पयोनिधि—
भारत स्वतंत्र।"

नौआखाली

बिन्दु ४

लो चलो लेखनी! करना है नौआखाली पर दृष्टि पात,
अत्याचारों की असित रात, मत धैर्य छोड़ना पथ में,
हृद्गति न मंद।
दुर्दैव! तुम्हें ही लिखना है दुर्भाग्य-ग्रस्त मानवता का—
दुर्भाग्य पूर्ण इतिहास, चलो धृति-अश्व जोड़कर रथ में।
रूठे न छन्द।
पैशाचिकता का नृत्य देख दृग में बरसात न बस जाए,
हो जाय न यह मृदु उर शतधा; वीभत्स-दहन में सब रस—
जाएँ न सूख।
है तुम्हें वहाँ चलना कि जहाँ है अमिट कालिया का कलङ्क,
दिग्भ्रांत न कर दे अंधकार, री, सावधान रहना बस!
मनु, मनुज-भूख।
जल रहे यहाँ पुर, ग्राम, नगर, झोपड़ियों की लपटें देखो,
ये दहक रहे वसुधा—अम्बर, चीत्कार चीरती छाती।
यह यम-प्रवेश।
था बना यहाँ पर मनुज श्वान, रे, काक-गृद्ध अथवा शृगाल,
हैं साक्षी ये नर-मुण्ड-खण्ड, मुस्लिम-संस्कृति की थाती।
नरता न शेष।

शिर कटे यहां शत पुरुषों के, जीवित शिशुओं का अग्नि–दाह,
उन द्रौपदियों के चीर–हरण, सिन्दूर रहित सधवापन।
विधवानुरूप।
शस्त्रों से क्षत-विक्षत पयोद, थे दशन-दंश-क्षत अरुण गाल!
भालों से छेदित गुप्त अङ्ग, जो सुना कभी था पशुपन—
यह नग्नरूप।
धृति धरो लेखनी! अभी बहुत अवशेष वञ्चना दानव की,
पथ पर सामुहिक अनाचार दिन में रवि के दृग–सम्मुख।
सांत्वना कौन?
गौवध, गो-आमिष भक्षण को बाधित हिंदू, नर-मूत्रपान—
को विवश मनुज, हा, दैव कोप! पाषाण न पिघले सह दुख।
दश दिशा मौन।
सुत-भाई सम्मुख मां--भागिनी निर्वस्त्र पिशाची हाथों में,
बन्दी पति के दृग देख रहे व्यभिचरित प्रिया पशुद्वारा।
निकला न श्वास।
मां के मुख में निज दूध मुँहे शिशु का आमिष था दिया ठूंस,
हा, मां के मुख में मूत्र-पात करने को सुत को मारा।
तम, प्रभु--प्रकाश।
शासन पर जिनकी रक्षा का दायित्व पूर्ण, थे अधिकारी—
मुस्लिम सब, मौन समर्थन था, जिन्ना की आशीर्वाणी।
वह वरद हस्त।
नारी निर्यातन और धर्म--परिवर्तन–घटना साधारण,
पर नग्न नारियों के जुलुसों की निष्कथ करुण कहानी।
रवि भी न अस्त।
नभ मेघ-खण्ड दुर्व्यथा-असित, गत शीतल जल ऊष्णाश्रुपूर्ण।
तरु, शस्य-श्यामला, वल्लरियों पर भी विषाद की छाया
पतझड़ समान।
सरिता, निर्झर का कल-कल-कल दुस्सह्य कर्ण-कटु क्रन्दन स्वर
मत पिओ लेखनी! यह न नीर, कर रक्त-स्नान वह आया—
पशु का विधान।
रो रही सिसकियां भर-भर कर मलयाचल की गत सुरभि वायु,
पृथ्वी न फटी यह पाषाणी पीकर असंख्य मन शोणित।
नित नव विहान।

ये आहें, सुरभित मलय मंद, ये चीत्कारें हैं मधुर गीत,
ये रुण्ड मुण्ड जो लुढक रहे, जो रक्त-मांस-आवेष्ठित—
कमलोपमान ।
पशु द्वारा नर-मल-द्वारों में था मीर्च-पूर्ण बलवत, प्रविष्ट,
हा लज्जे ! जननेन्द्रियां भङ्ग, सूखा न सिंधु का पानी ।
श्यामल न सोम ।
मत कँपो लेखनी मानव की यह देख-देख दयनीय दशा;
रोमाञ्च न होता धरती को, रवि भासमान अभिमानी ।
है नील व्योम ।
उस दानव को न जघन्य कृत्य, जिसने कि किया लज्जा आयी,
तुम हिचक रही क्यों लिखने में जो हुई यहां दुष्कृतियां ?
खींचो लकीर ।
देखो, रवि शशि की आंखों में लज्जा का कोई चिन्ह नहीं,
सङ्कोच न विस्तृत अम्बर को, स्मिति मंद न तारावलियाँ ।
सागर गँभीर ।
यह भूमि कि जिसके उर पर ही ललनाओं का सिंदूर धुला,
नारीत्व लुटा, तिल भर न हिली, तुम उठो, करो कुछ साहस।
जन-हृदय-पत्र ।
क्या मसि ? मसि तो है प्रवहमान इन क्रन्दन रत सरिताओं में—
मानव—शोणित की लाल-लाल, होगी न कहो यह भी बस ?
जो यत्र- तत्र ।
हैं पञ्चभूत कर्तव्य-विमुख, है दया कृपण वह दया-सिंधु;
इस धर्म-अंधता की काली लिखना है तुम्हें कहानी,
है यदपि खेद ।
यदि तुम न लिखोगी, भावी जग क्या जानेगा—इस वसुधा पर ।
मानव शोणित से कभी फाग खेला था कोई मानी,
धर्मांध दैत्य ?
ये दग्ध मनुजता की श्रुतियां उस अन्तरिक्ष की ओर लगीं—
"दो शब्द सांत्वना के आएँ ।" है नहीं प्रभाती गानी
री तुम्हें आज ।
उन आंखों का, जिनमें विषाद, नैराश्य और हैं अन्धकार,
तुमको निज दृग के पानी से धोना है खारा पानी
मृदु काव्य--व्याज ।

महाभिनिष्क्रमण

बिन्दु ५

—॥—
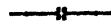
जिस बङ्ग देश ने ब्रह्म विज्ञ चैतन्य—चेतना प्रकटायी,
जिसने रविन्द्र के—से रसज्ञ प्रकटाये काव्य—सुधाकार—
माधुर्यपूर्ण ।
जिसने सुभाष का शौर्य प्रसव पायी 'सुरत्नगर्भा' संज्ञा,
वह ब्रह्मज्ञान, रस, शौर्य शून्य करती विलाप कर-शिर धर ।
उर चूर्ण-चूर्ण ।
आभूमि-व्योम चीत्कारपूर्ण, विचलित वह सेवाग्राम कुटी,
था मनुष्यत्व-गज ग्राह-ग्रसित, चल करुणाकर का आसन,
चल पड़ी रेल ।
आक्रान्त क्षेत्र की लपटों में घुस पड़े विष्णु वाहन विहीन,
उन अरुक अश्रु की झड़ियों को था "धैर्य-धैर्य" आश्वसन ।
उर धैर्य-शैल ।
धो चला प्रेम के निर्झर की करुणा का कल—कल क्रन्दन को,
उन भस्मसात आशाओं को था मिला धैर्य का पानी ।
स्वाती समान ।
उजड़े—उजड़े वन, खेत, पन्थ, पुर, नगर, ग्राम, घर धूम्रपूर्ण,
उस अन्धकार पर अङ्कित थी दानव की क्रूर कहानी ।
नर रक्तपान ।
सतहत्तराब्ध वय स्कन्ध भार, वह अस्थि शेष वात्सल्य सिन्धु,
वह मनुज-मेध का दृश्य देख था शैल धैर्य का विचलित ।
उर अब्ध्य शांत ।

कोमल पद जल-जल उठते थे नर-शोणित की छू दुसह दाह,
थे पद-पद पर जिसके धब्बे वसुधा के उर पर आङ्कित।
जिनका न अन्त।

सुन देव-गिरा शुचि 'प्रेम! प्रेम!' शिशुदल अनाथ आ लिपट गया,
"हा पिता, पिता!, हा पिता, पिता! तुममें माँ की भी ममता।"
शत अश्रु-धार।

दो चरण बढ़े, उर-द्रावक ध्वनि ललनाओं के शिर-कुङ्कुम की,
माताएँ, जिनकी गोदी में कल फुल्ल कमलदल हँसता—
"भगवन्! उबार!"

वह धैर्य कि जो बाधाओं के शत शैलों से न हिला न डुला,
शत बिच्छु-दंश जिसने कि सहे जैसे पवि स्मर-शर कोमल।
गिरि बिंदु-घात।

वह अचल-धैर्य तिलमिला उठा इन आहों और कराहों से,
अङ्गारों से जो नहीं जला, जल उठा दुसह सह दृग-जल।
था वज्रपात।

दश-दश सहस्र के झुण्डों में आक्रामक करते थे प्रहार
जिस नन्दन पर टूटे कि वहाँ शोणित का निर्झर निकला।
था प्रलय-नृत्य।

थे वे न लुटेरे लुटते जो केवल धन या गज, अश्व, गाय,
लुटते सौभाग्योज्वल सतीत्व, थी एक अभागिन अबला—
दस-बीस दैत्य।

"बापू! बोलो, सो रहे कहां पाञ्चाली के आराध्य देव?
पैशाचिक हिंसा के सम्मुख रक्षा न सत्य क्यों करता?
सत्यावतार!

हे देव! अहिंसा की धरती अब भी न हुई कम्पायमान!
अब भी न धैर्य की धरती पर कोई भूचाल उतरता!"
कातर पुकार!"

"है अस्त्र अहिंसा वीरों का, धृति-शक्ति अचल का ही स्वभाव,
कायरता से हिंसा श्रेयस, मत झुको करता सम्मुख,
मन गत-विकार।"

आहों के घन के अंधकार, चित्कारों की दामिनियों में,
प्रात: के रवि की रश्मि तुल्य तम-पथ पर बापू उन्मुख,
साकार प्यार।

शत-शत सहस्र हिंसक पशु में यह एक अहिंसक सिंह अभय,
शस्त्रास्त्रहीन, रक्षक विहीन, विश्वास--सुदर्शन-रक्षित,
कर, सत्य-दीप।

"मनुजत्व समक्ष कभी होंगी आसुरी वृत्तियाँ पराभूत,
इस घृणय द्वेश पर प्रेम-विजय है कालान्तर में निश्चित।
जल, सज-सीप।"

विश्वास प्रपीड़ित जन का पर था सिसक रहा उन तरुओं में,
जिनके पीले-से पत्तों में थी वायु सशंकित थर-थर
कम्पायमान।

भट्टी पर चढ़ी कढ़ाई में तल डाले दनुजों ने मनुष्य,
क्या मनुष्यत्व की आशाएँ! 'मत कहो कि है अब ईश्वर।'
यदि है, प्रमाण?

मारो-काटो का उद्घोषण, है "त्राहि-त्राहि" का आर्तनाद,
करने दीनों का परित्राण ध्वनि 'शांत! शांत!' कल्याणी।
"ईश्वर समर्थ।"

दृग साश्रु एक मुस्लिम वृद्धा-"गांधी! तू है अल्लाह, जिला-
दे सुत हिंदू द्वारा आहत।" थी मर्म-स्पर्शिणी वाणी।
पशुता! अनर्थ।

"ना, तेरा पुत्र नहीं है माँ वह जो कि कब्र में है सोया;
वह तो गांधी है, तेरा सुत यह तेरे पद पर नत शिर।"
माँ थी निहाल।

विष घुलने में, ज्वालाओं की शीतलता में संदेह न था,
'हृत्परिवर्तन मुख्योपचार सब दुष्कृतियों का' मृदु स्वर ।
विष-स्खलित व्याल ।

जिस रज पर पावन चरण पड़े, वह रज फिर धरती पर न रही,
चढ़ गयी आर्त-जन मस्तक पर, वह रज-रज ही न रही फिर,
थी शुचि गुलाल ।

विश्वास–प्रेम–सम्मुख हिंसा थी लुप्त, सूर्य–सम्मुख ज्यों तम,
"है द्वेष मनुजता पर कलङ्क, है विश्व-बंधुता शुभ चिर ।
शशि ! विष न ढाल !"

थे अर्ध लक्ष निष्क्रमणार्थी छूटे जिनके धन, धरा, धाम,
जन अर्ध लक्ष थे मृत्यु-कवल, 'अल्ला हो अकबर' ध्वनियाँ-
असि तीक्ष्ण धार ।

कितना उदार इस्लाम धर्म ? वे राम–कृष्ण की क्षत–विक्षत—
प्रतिमाएँ थी जिसका प्रमाण, वे शोणित की फुलझड़ियाँ ।
ध्वनि 'मार-मार !'

वह बङ्ग प्रांत का इस्लामी शासन कानों में तैल डाल,
पाकिस्तानी पागल प्रमाद, 'जिन्ना-जय' मंत्रोच्चारण—
श्रुति-वेद-सूक्ति ।

बापू की प्रेमध्वनियाँ सुन वह सर्प केंचुली छोड़ चला,
दृग खुले, धुला विष या कि नहीं यह जाने केवल भगवन् ।
द्युति-पथ प्रयुक्ति ।

थे विश्व–बन्धु स्थिति–प्रज्ञ बुद्ध बापू, दानव अंगुलीमाल–
थे पैशाचिकता भूल रहे, आरक्त जीभ पय–प्यासी ।
कुछ ढली रात ।

पर प्रतिहिंसा–अग्निस्फुलिंग थे वृहद् राष्ट्र पर बिखर चुके,
थी दह्यमान यमुना-गङ्गा, धूमावृत मथुरा–काशी–
तट अनल स्नात ।

ढाका की वस्त्र-कलाओं की थीं इधर कीर्तियों की आहें,
उज्जवल अतीत की भाग्य-मांग पर थे काजल-कण बिखरे,
घन-तम अशांत ।

बम्बई, अलीगढ, मुक्तेश्वर, पञ्जाब, भरतपुर दहक उठे,
मरघट-सा 'धू-धू-धू' बिहार; यमराज स्वयं थे उतरे ।
दश दिशा क्लांत ।

"अल्लाहो अकबर" ने हिंदू नोआखाली में किये भस्म,
'बजरङ्गी की जय' का मुस्लिम से थे बिहार में बदला।
नर रक्त फाग ।

"रह-रह यह 'मारो-काटो' क्या ? क्या आज विश्व से मानवता,
हो गयी तिरोहित ? क्यों विनाश यह अनल-मेघ बन मचला ।
प्रलयानुराग ।

नोआखाली के क्षत मन्दिर तोड़े बिहार की मीनारें,
'पशुता के बदले में दशुता' आदर्श बुद्ध का ? श्रुति का ?
यह पुण्य कर्म ?

यदि बुझी नहीं यह प्रतिहिंसा आमरण करूँगा मैं अनशन,
हिंदुत्व-पाप का प्रायश्चित ।" चल आसन अचला धृति का ।
चल राज्य-धर्म ।

श्री नेहरू—हिन्द प्रधान मंत्रि, वह देशरत्न राजेन्द्र चला,
आश्वस्त उधर इस्लाम, इधर बापू का मृदु उर शीतल ।
वह स्नेह-धाम ।

'तू ही रहीम, तू राम-श्याम; तेरे ईश्वर—अल्लाह नाम,
सन्मति दे सब को सर्वेश्वर ! यह क्रन्दन हो फिर 'कल-कल' ।
श्रुति-प्रिय ललाम ।'

क्रिया-प्रतिक्रिया

बिन्दु ६

नोआखाली की अग्नि शांत, कुछ शुभ्र गगन, कुछ धूम्र शेष,
कुछ-कुछ बिहार की मन्द तपन, निर्विष न किंतु थी व्याली ।
थी शेष प्यास ।

है नियम क्रिया का प्रतिक्रिया, स्वाभाविक हिंसा—प्रतिहिंसा,
नोआखाली के विष-तरु की फूली बिहार पर डाली ।
बिखरा विनाश ।

थे मुस्लिम लीगी सैनिक दल, राष्ट्रीय[1] रूप, देशद्रोही,
पावन मानवता के कलङ्क, इस्लाम धर्म के त्राता (!)
धर्मांध क्रूर ।

"कहते कुरान के फटे हुए पन्ने—काफिर को करो खत्म,
खतरे में है इस्लाम" धर्म के बोले नये विधाता[2] ।
वे असुर-शूर ।

"है खून तुम्हारी रग-रग में नादिर अथवा तैमूरों का,
चंगेजी जोश न बाहों में ? क्यों खून न फिर भी उबला ?
बोलो जवान ?

बन गया गर्म खूँ क्या पानी ? शेरों ! क्यों सोये मुर्दों से ?
सीमांत और पञ्जाब न क्यों लेते बिहार का बदला ?
टूटी कमान ?"

आदेश लीग का था यम का, पथपर अङ्गारे बरस पड़े,
"धू-धू, धू-धू" पञ्जाब भूमि, प्रलयङ्कर दावानल था ।
क्रन्दन पुकार ।

१—मुस्लिम नेशनल गार्ड २—मि० जिन्ना

थे नील निलय में धूम्र-पुञ्ज, मलमज 'सन-सन' चीत्कार भरा,
सरिताओं की कल-कलित सुधा यम का लोहित अञ्चल था।
शत गरल-धार।

तरु-तरु, तृण-तृण, पल्लव-पल्लव, खग, मृग अग-जग रव 'त्राहि त्राहि',
बापू की पीड़ा—"राम-राम, नर में यह कैसी पशुता ?
क्यों रक्त प्यास !"

मुख प्रेम गीत, धृति-दण्ड हाथ, पद सत्य अहिंसा शक्ति अदम,
वह अमर ज्योति चल पड़ी उधर तम जहाँ सूर्य था ढलता।
विश्वास-ह्रास।

"निर्झर-कल-कल, खग दल-कल-रव, शिव-सुन्दर निशि-दिन-संध्याएँ,
शिव-सुन्दर जल-थल-गगन-मेघ, बहुरङ्गी सुर-धनु-छाया।
शिव अंतरिक्ष।

है अखिल विश्व शुभ शिव, सुन्दर, यह मानव अशिव अमङ्गल क्यों ?
जग का विकार, सब घृण्य पाप क्यों इसने ही अपनाया ?

इस सुन्दर सुघर कलाकृति में कर गया विधाता भूल कहीं,
इस स्वर्ण-कुम्भ के उदरान्तर है जो कि गरल छलछलता
पीयूष—छद्म।

हिंदू-मुस्लिम सुत, एक पिता, भाई-भाई में घृणा-द्वेश !
भारत माँ के दो शुभ्र नयन, है एक इतर से जलता ?
विषपूर्ण पद्म !"

रावी-सतजल का क्रन्दन सुन बापू बढ़ने ही वाले थे,
दिल्ली में यमुना के आँसू हा, ढुलक पड़े चरणों पर।
थी व्यथा जीर्ण।

थीं वहाँ 'राम' की चीत्कारें, क्रन्दन करता 'अल्लाह' यहाँ,
इन आहों ने पद पकड़ लिए, था ममता का मृदु अन्तर—
शतधा विदीर्ण।

सरिता—तट तृषा बुझाता,
यदि प्यासा जाए तट पर ।
यह पनघट स्वयं पहुंचता
अविलम्ब तृषाकुल के घर ।

× + × +

"क्यों पागल प्रेम न पीते ?"
अहरह चिन्ताकुल पयधर,
"क्यों काग-तीर्थ पर जाते-
नर-हंस ?" दुखित रत्नाकर ।

पञ्चदशोर्मि

दिल्ली की गति-विधि

बिन्दु १

स्वातंत्र्य-संधि-चर्चाओं में दिल्ली का वातावरण व्यस्त,
कुछ शुभ्र गगन, कुछ मेघ पटल, कुछ रुद्ध पंथ, कुछ-कुछ प्रशस्त,
था राजनीति का रङ्ग मञ्च।
था शिमला के, दो बार चढ़ा मृदु शीत मलय का तापमान,
हो सका न कोई किंतु वहां समझौते का समुचित निदान।
था छद्म-वृत्तियों का प्रपञ्च।
था आंग्ल-प्रयत्न कि भारतीय हों सिद्ध न शासन के सुयोग्य,
पाश्चात्य राष्ट्र लें मान सभी "भारतवासी सब विधि अयोग्य।"
'स-विभाजन शासन,[1] की सुनीति (!)
'सम प्रतिनिधित्व' पर चर्चाएँ आकर हो जातीं लुप्तप्राय,
कर लेते सत्वर आविष्कृत नीतिज्ञ विज्ञ नूतन उपाय।
चर्चाएँ—चपला—जलद रीति।
था कभी अल्पसंख्यक दलका, राज्यों का रक्षण और स्वत्व—
आ जाता पथ पर शिला तुल्य, इतना न अधिक जिनका महत्व।
सब भेद नीति का था कुचक्र।
बस, संधि-भंग को मिल जाए, शासन सयत्न, कोई निमित्त,
हाथों से निकल न जाय कहीं यह विस्तृत सत्ता, विपुल वित्त।
भारत का वह चिर रहे शक्र।
नैतिकता की प्रतिभा-सम्मुख टिक सकता अधिक न तमस्-छद्म,
दिनकर के भ्रम न खिला सकती दीपावली या दामिनी, पद्म।
भ्रम से अब गौतम थे सचेत।

१-Divide and rule

सह दुरभि-संधि, सत्ता से की जिन्ना में जागृत तीव्र प्यास—
कांग्रेस-सत्यता के सम्मुख थे घन, चातक दोनों निराश।
भासित बापू का उर्ध्वरेत।
अब शासन परिषद में समान पाने में, निष्फल प्रतिनिधित्व—
भारत की अखण्डता-क्षय को पाया 'दो राष्ट्रों' ने महत्व।
श्री जिन्ना का दुर्योधनत्व।
कांग्रेस कि एक अखण्ड हिन्द का बना रही थी मानचित्र,
जिन्ना को ज्वर में था त्रिदोष, सन्मति लगती कैसे पवित्र!
"मुस्लिम का पाकिस्तान स्वत्व।"
सौहार्द्य न रञ्च रुचा, न रुचा, ऊसर भू पर उगता न धान्य,
दासत्व-शृङ्खला के क्षय को अनिवार्य विभाजन सदुख मान्य।
पञ्जाब-बंग दो बाहु खण्ड।
आयोजित चारु विधान सभा, निर्माण-हेतु अपना विधान,
सब दल का जिसमें प्रतिनिधित्व, कुछ भासमान धूमिल विहान।
था किंतु विभाजन पाप दण्ड।
राजेन्द्र, राष्ट्र के रत्न कि जो, जिनमें विधान का विपुल ज्ञान,
थे परिषद के अधिनायक के सिंहासन पर शोभायमान।
सुर-मध्य वृहस्पति के समान।
था नव विधान का लक्ष्य-'लोक तांत्रिक सत्ता सम्पन्न राज्य।'
जिसमें विकास का सम अवसर सब को, जो हो सबका स्वराज्य।
निष्पक्ष मनुजता का विधान।
अनुकूल विचार-विमर्षण को बन गया वृहद् नभ लघु वितान,
कुछ चल-विचलित-से दौड़ रहे लन्दन से दिल्ली तक विमान।
अस्ताचल के अवरुद्ध गान।
हो उठी अचानक अम्बर में ध्वनि कल्याणी गुञ्जायमान—
"ईसा के सैंतालीस[1] अब्द, पंद्रह अगस्त को नव विहान।
गौरांग देवता का प्रयाण।"

१—सन् १९४७

नव विहान

(१५ अगस्त, १९४७)

बिन्दु १

जिस क्षण की पुण्य प्रतीक्षा में पथरीं थीं पलकें निर्निमेष,
घिस गयीं रेख अंगुलियों की, आशाओं के पक गये केश,
आवाहन करते कीर्ति-गान।
शत प्राणों का उत्सर्ग फला, फिर शीतल सुरभित नभस्थान,
कल कुञ्ज प्रभाती मंगलमय, नूतन जीवन के नये गान।
प्राची का प्राङ्गण भासमान।
सन सत्तावन[१] के सपनों का आलोकपूर्ण यह नव प्रकाश!
श्री नाना, तात्या, लक्ष्मी के शोणित का कलियों में सुहास।
सौरभ, प्राणों की नयी साँस।
दादाभाई नारौजी की, शत 'भक्तों' की शुचि मातृ-भक्ति,
यह 'जन्म-सिद्ध अधिकारों' की भगवान तिलक की मंत्र-शक्ति,
'आजादों' की अतृप्त प्यास।
जगमगी जवाहर की प्रतिभा, यह जयप्रकाश का नव प्रकाश,
यह सरोजिनी की यशः-सुरभि, यह आर्या अरुणा का हुलास।
लक्षोत्सर्गों की मधुर याद।
नरसिंह बोस का प्रखर शौर्य है लाल किले पर दीप्त आज,
शत--शत बलिदानों का प्रतीक यह चारु तिरंगे का स्वराज्य।
प्रिय बापू के तप का प्रसाद।
पुरुषोत्तम, पंत, नरेन्द्रों का वह उद्घोषण यह विजय गान,
उस शरदचन्द्र के यौवन से अभिसिंचित सस्मित नव विहान।
यह राजेन्द्रों का अतुल त्याग।

१—सन् १८५७

इन हर्षध्वनियों में गुञ्जित हुङ्कार पूर्ण इतिहास पूर्व,
शोणित से सींचा हुआ विजन यह रम्य वाटिका है अपूर्व।
वह रक्त-दान ही यह पराग।

सींचा था रक्त सपूतों ने, ललनाओं ने सिन्दूर भाल,
माताओं ने इस मुक्ति-यज्ञ में होमे थे लाड़िले लाल।
तम-पथ बलिदानों की मशाल।

वे लाल खिले बन आज फूल, सिंदूर बना कुंकुम—गुलाल,
बालारुण बन बलिदान उदित, वह कठिन तपस्या विजय-माल।
श्रद्धा से नभ का नमित भाल।

स्वातंत्र्य-पताका फहराते क्षण लाल किले पर प्रथम बार—
सर्वोच्च सचिव-पद से बोला मां स्वरूप,[1] मोतीका,[2] दुलार[3]—
"जय-जय जननी! जय प्रभु! प्रणाम!

शत-शत प्रणाम उन वीरों को लाए जो यह नूतन प्रभात,
जो बीज सदृश मिटगये समुद, जिनका कि त्याग अज्ञात-ज्ञात।
उस ऊष्ण रक्त को शत प्रणाम।

स्वातंत्र्य-समर के उस अच्युत सेनानी को शत-शत प्रणाम,
है सत्य-अहिंसाऽयुध जिसके, है जो कि सुदर्श रहित श्याम।
नीरक्त क्रांति जिसकी ललाम।"

संदेश देश को "पारतंत्र्य के बंधन तो हो गये नष्ट,
मुक्त्युत्सव के उल्लासों में भूलें न किंतु दायित्व, कष्ट—
जो भावी-पथ पर निर्विराम।

यह आया प्रात विभाजन के लेकर काले छन का वितान,
ये खेत मिले उजड़े-उजड़े, ये ग्राम-नगर खँडहर समान।
सम्पूर्ण व्यवस्था जीर्ण-शीर्ण।

करना है नव निर्माण भवन, करना है वसुधा शस्य-श्याम,
इस अवध और वृंदावन में फिर रमें राम, फिर रमें श्याम।
धनु-झङ्कृति, वंशी-ध्वनि प्रकीर्ण।

१—स्वरूप रानी, २—पं० मोतीलाल नेहरू, ३—पं० जवाहरलाल नेहरू

वैदिक संस्कृति के गौरव को, बापू जिसके कि प्रतीक पुण्य—
करना है फिर से संस्थापित, गूँजे 'श्रुतियों' से फिर अरण्य।
'सर्वे भवंतु सुखिनः' सुमंत्र।

'वसुधा-कुटुम्ब' का प्रेम पूर्ण आदर्श हमारा ज्योति-स्तम्भ,
सबको विकास का सम अवसर, जिसमें न छद्म, जिसमें न दम्भ।
सार्थक हो संज्ञा 'प्रजातन्त्र'।"

कृपलानी-राष्ट्राध्यक्ष पूज्य, मौलाना आदिक राष्ट्र-भक्त,
राजा, सरोजिनी, श्री पटेल, राजेन्द्र वीर का स्नेह व्यक्त—
"संस्कृति विकास, सुसमृद्धि शांति।"

श्री राष्ट्रपिता के चरणों पर सबकी श्रद्धाएँ नमित माथ,
था दिव्य तिरंगा ध्वज झिलमिल नव बालारुण के साथ-साथ।
झिलमिल-झिलमिल नीरक्त-क्रांति।

कवि और स्वतंत्रता

बिन्दु ३

मेरे छन्दों कि गति बदली, मेरी वाणी का स्वर बदला,
नव जागृति ने अँगड़ाई ली, बालारुण ने पलकें खोलीं।
अम्बर ने कुंकुम-केशर से चर्चित की भू पर रँग-रोली।
रख दी मेरे सम्मुख हँसकर तरुओं ने पुष्पों की झोली,
उन मदमाती शाखाओं पर कोकिल ने मधुर सुधा घोली।
वह तम भी देखो चोर सदृश, हो विकल विश्व से भाग चला,
मेरे छन्दों की गति बदली मेरी वाणी का स्वर बदला।

वीणा को नव-नव रागिनियाँ कहतीं "हमको झङ्कृतियाँ दो।"
हो व्यग्र, कल्पना हठ करती "मुझको मृदु काव्याकृतियाँ दो।"
पीछा न छोड़ते क्षण भर भी ये मधुकर मेरे छन्दों का।
अनुवाद कराने आये हैं निज उरके हर्षानन्दों का।

मेरे कर में लेखनी देख लो, हिमगिरि का भी मन पिघला,
मेरे छन्दों की गति बदली, मेरी वाणी का स्वर बदला।
यह ऊषा कब से खड़ी अरे कर में गुलाल की थाली ले।
मानस की लहरें मचल रहीं शतदल की मधुमय प्याली ले।
यह मलयानिल सौरभ लेकर मेरे समीप ही आता क्यों?
हठ पूर्वक पथ पर रत्नाकर मणियों के ढेर लगाता क्यों?
विहगों का दल क्यों श्रद्धाएँ मेरे चरणों पर ढोल चला?
मेरे छन्दों की गति बदली, मेरी वाणी का स्वर बदला।
क्यों यह तरुणों की टोली भी मेरे समीप आ ठहर गयी?
क्यों आते मेरे पास सभी लेकर आशाएँ नयी—नयी?
क्यों यह चातक भी ताक रहा? क्या मैं स्वाती का स्वामी हूँ?
क्यों कहता मृग "इस वीणा की स्वर लहरी का अनुगामी हूँ?"
घनकी झारी में जल लेकर शिशु-सा नभ मण्डल भी मचला।
मेरे छन्दों की गति बदली, मेरी वाणी का स्वर बदला।
सब समझे हैं—अब मैं कोई अनुपम सङ्गीत सुनाऊँगा,
प्रेयसि के दृग की मादकता प्रेमी—सम्मुख बरसाऊँगा।
पर मेरे छन्दों में अब तो है वह प्रणयोर्मिल प्यार नहीं,
तड़पन न वियोगी के उरकी, उच्छ्वासों का उपहार नहीं।
उस प्रेम—नगर से तो मैंने है कल ही अपना घर बदला,
मेरे छन्दों की गति बदली, मेरी वाणी का स्वर बदला।
मिल चुकी मुझे मां की ममता, नव रस की अब कुछ प्यास नहीं,
पावन पद—रज को छोड़ कहीं इन भावों का अधिवास नहीं।
उस कुटिया में बसने वाले, अनुचर हूँ आधे नंगे का,
कवि नहीं किंतु मैं हूँ केवल अब चारण चारु तिरंगे का।
स्वातंत्र्य-सूर्य की स्मितियों ने संसृति का जीवन-स्तर बदला,
मेरे छन्दों की गति बदली, मेरी वाणी का स्वर बदला।

बापू अभिनन्दन

युग–नायक ! शत–शत अभिनन्दन ।
युग–पुरुष ! तुम्हें शत–शत वन्दन ।

हम प्रलय–निशा के पार हुए प्रिय ! आज तुम्हारे उजियाले,
तुम ने स्वतन्त्रता देवी के मन्दिर के खोले हैं ताले ।
जगमग-जगमग आलोक हुआ, विद्युत्-सा दमक उठा कण-कण ।
युग–पुरुष ! तुम्हें शत–शत वन्दन ।

तुम ने जय–घोषों में बदला अम्बर का भीषण घन गर्जन,
तुम अचल रहे, तुम से टकरा चल हुए अचल–से उत्पीड़न ।
शत–शत भूचाल न पद–रज के कण को भी दे पाये कम्पन ।
युग–पुरुष ! तुम्हें शत–शत वन्दन ।

तुम स्नेह बने मां के उर के, तुम दीप बने जग के पथ के ।
शोषित मानव के त्राण बने, सारथी मनुजता के रथ के ।
तुम विकल विश्व के आशामय, अवरुद्ध प्राण के नव स्पन्दन ।
युग–पुरुष ! तुम्हें शत–शत वन्दन ।

है प्रथम स्वतन्त्र प्रभाती का अर्पण यह तुमको मञ्जल स्वर,
यह नव प्रभात की प्रथम किरण है नामित तुम्हारे चरणों पर ।
कोट्यावधि पुलकित पलकों की श्रद्धाएँ करतीं हैं अर्चन ।
युग–पुरुष ! तुम्हें शत–शत वन्दन ।
युग–नायक ! शत–शत अभिनन्दन ।

सूर्य-ग्रहण

बिन्दु ४

था नव प्रभात की स्मितियों में सम्पूर्ण राष्ट्र सुख में विभोर,
सङ्कीर्ण-वृत्ति पाकिस्तानी थे देख रहे कुछ स्वप्न और।
"संस्थापित हो इस्लाम-राज।"
थे 'मुगल-सल्तनत' के सपने दिल्ली के आसन पर सचेष्ट,
निर्मूल हुई न अभी तक थी भारत मां की माह-दशा नेष्ट।
विग्रह-कारण चिर 'तख्त-ताज।'
षड्यन्त्र व्यवस्थित, शस्त्र-क्रांति, भू-गर्भस्फोटक अग्नि-यंत्र,
सत्ता पर सहसा था प्रहार, 'अल्लाहो-अकबर' युद्ध-मंत्र।
था 'युद्ध! युद्ध!' आह्वान भव्य।
इन पाकिस्तानी छद्मों का प्रस्तुत समुचित उत्तर तुरन्त,
'औरङ्गजेब' की आशाएँ पल भर में थीं हेमन्त—वृन्त।
इस्लाम, हिन्द-जन-शक्ति-हव्य।
रच गया किंतु यह देश-द्रोह दो दल में विग्रह का विधान,
शव लुढ़क रहे थे दिल्ली में, था दृष्ट न जीवित मुसलमान।
भू-लुण्ठित थे भावी महीप (!)
बन सका न पाकिस्तान यहां, निर्मित था कब्रिस्तान किन्तु,
चंगेजी आकांक्षाओं का मृत गरल पूर्ण विद्वेश-जन्तु।
कब्रों पर भी थे नहीं दीप।
बापू के पद से लिपट गयी 'जामा मस्जिद' की करुण आह,
रुक गये वहीं कातर-वत्सल, गुरुद्वारों की रुक गयी राह।
"पहिले यह ज्वाला बने शांत।

पञ्जाब-भूमि में इस्लामी अत्याचारों का प्रबल ज्वार,
नोआखाली की द्विरावृत्ति, अत्याधिक—क्रूरता का प्रहार।
दुर्मति दानव धर्मांध, भ्रांत।
बन गयी इधर यह दिल्ली भी प्रतिहिंसोत्तेजित अग्नि-कुण्ड,
गत-शिखा अग्नि शिर खण्ड-खण्ड, बजरंग-पुच्छ-लपटें प्रचण्ड।
था 'विश्व बंधु' का उर विदीर्ण।
झट सत्य-अहिंसा-धन्वा से छूटा अनशन का ब्रह्म-अस्त्र,
हो गये हिंदुओं के करके विष बुझे हुए सब स्तब्ध शस्त्र।
कुछ निरभ्र नभ, कुछ पथ प्रकीर्ण।
था पाक-हिंद सरकारों में कुछ आर्थिक, नैतिक वैमनस्य,
हो गया दूर वह भी सत्वर, ब्रह्मास्त्र-प्रकाशित अमावस्य।
पर क्षुद्र हृदय कुछ थे उदास।
"गांधी हिंदू का शत्रु, मित्र इस्लाम धर्मियों का अभिन्न,
आर्यों के उमड़ें साहस को कर देता शतधा छिन्न—भिन्न।"
था भ्रांत धारणा का विकास।

नरमेध परम्परा

बिन्दु ५

थे दिव्य तिरंगे की छाया के आश्रय में राजा समस्त,
सत्ता—सञ्चय में सार्वभौम था किंतु हैदराबाद व्यस्त।
'जन-प्रतिनिधि जनता का कृतघ्न।
त्यों ही स्वतन्त्रता, सत्ता की, भोपाल कल्पना में निमग्न,
था अपर सुरेश्वर बनने की आशाओं में काश्मीर मग्न।
मुक्त्युत्सुक जन के स्वप्न भग्न।

सहसा पाकिस्तानी सेना भू—नन्दन "युद्ध दहि" द्वार,
था वीर जवाहर के पद पर काश्मीर—नृपति का अहंकार—
"शरणागत वत्सल ! त्राहिमाम !"

थे वे कबाइली हिंस्र जंतु, काश्मीरीजन निरुपाय गाय,
था हिंद सैन्य का प्रति सैनिक शत कालजीत, क्यों सुने हाय ?
था कबाइलियों में कोहराम ।

सु—व्यवस्थित लीगी था कुचक्र, हिन्दूजन—सामूहिक विनाश,
पञ्जाब भूमिपर उतरा था नर-मृगया को सम सावकाश ।
चीत्कारें थीं "हा राम ! राम !"

संहार, धर्म—परिवर्तन औ' नारी—निर्यातन, अनाचार,
रावी, चिनाव, सतलज, झेलम, थी सिंधु रुधिर की क्षिप्र धार ।
कण—कण पर शनि की दृष्टि वाम ।

झेलम की प्रलयी धारा का, नौ सौ महिलाओं का सतीत्व—
अति कृतज्ञ था, जिसमें कि बचा मेवाड़ी जौहर का महत्व ।
नारी—जीवन का पुण्य तत्व ।

जलती ज्वाला की भट्टी में नन्हें—नन्हें शिशु स्वाह ! स्वाह !
चीत्कारों से क्षत व्योम-वक्ष, कम्पित भू, मलयज में कराह ।
स्तम्भित सागर-जलका चलत्व ।

दिशि—विदिशा सामूहिक भगदड़ पशुता से रक्षण के निमित्त,
स्पन्दन में जिनके कटु कराह पैरों में कम्पन भय—प्रदत्त ।
ज्वालामय जल—थल—अंतरिक्ष ।

तलवारें, भाले, बंदूकें, अंगारें ढलते थे विमान,
दश—दश सहस्र के झुण्डों में आक्रामक आते तीर तान ।
थी मृत्यु हिंदुओं के समक्ष ।

पद—पंथी मन संशय के घन, मोटर—गाड़ी पर ज्वाल—माल,
जिस पथ पर कातर नयन उठें, मुख खोले था उस ओर काल ।
इस्लाम धर्म का पुण्य पर्व ।

था जन-संख्या का परिवर्तन, निष्क्रमणार्थी जन लक्ष-लक्ष,
भारत तक आने के पहिले अधिकांश आर्य जन मृत्यु-भक्ष ।
था 'पाक' समुन्नत शिर सगर्व ।

शरणार्थी दल की एक रेल दिल्ली-स्टेशन के समीप—,
ठहरी, जिसमें शव-मुण्ड-खण्ड, था एक न ज्योतित प्राण-दीप ।
शोणित—लथपथ सम्पूर्ण कक्ष ।

"हिन्दू-जन की यह दैन्य दशा !" जन-जन के अन्तर में उबाल,
प्रतिहिंसा, मुस्लिम-शोणित से हो गया हिंद भी लाल-लाल ।
नव ग्रीषम जिन्न—दृग—समक्ष ।

मन्दिर गुरुद्वारों के बदले शतखण्ड मस्जिदें उच्च भाल,
शत-शत मुस्लिम-शिर 'टप-टप-टप' मानों कि आम्र की पकी डाल ।
आरक्त सिंधु, आरक्त गङ्ग ।

था प्रबल धर्म—उन्माद अंध, था मनुज मनुजता से विहीन,
था चढा सभी को सन्निपात, सब न्यायान्याय—विवेक हीन ।
सब पानी में मिल गयी भङ्ग ।

थी "शांति ! शांति" वेदनामयी बापू की वाणी मानवीय,
"यदि अपराधी पाकिस्तानी, क्यों हिन्दी—मुस्लिम दण्डनीय ।
विष वहां, यहां कैसा उतार ।

दावाग्नि लगी है वहां, यहां क्यों मेघ बरसते प्रलय—धार ?
भारत के मुस्लिम के वध से धुलना पाकिस्तानी विकार ?
रोगी पर हो शल्योपचार ।

अपराध करें कोई, पाए क्या समचित है निर्दोष दण्ड ?
देहों को क्या क्षति पहुँचेगी यदि छाया के शत करो खण्ड ।
रुज अन्य, उचित अन्योपचार ?

रे मानव बोलो पशुओं—सी प्रतिहिंसा भी क्या शोभनीय ?
क्या विच्छु-दंश के बदले में प्रति—दंशन कभी प्रशंसनीय ?
होगा दंशन स्थल निर्विकार ?

चुभ जाए यदि पद में कि शूल, क्या प्रतिहिंसा भी तदनुरूप ?
विषधर के दंशन के बदले तुम भी होगे विषधर—स्वरूप।
मानव हो, हो तुम पशु न वन्य।

है शौर्य क्षमा में शूरों का, है प्रेम—शृंखला ब्रह्म—जाल,
बँध जाते जिसमें सर्प-दशन, शीतल हो जाती ज्वालमाल।
हो शांति अहिंसा-प्रेम जन्य।"

उन्माद चढ़ा था वसुधा पर, नर-नर का करता रक्त पान,
मानवता पशुता में बदली, यह भी कैसा विधि का विधान।
बस उथल-पुथल थी सभी ओर।

निष्क्रांत भरतपुर के मेवे भोपाली हिन्दू पर विपत्ति,
हैदराबाद के रजाकार आक्रामक—पागल श्वान—वृत्ति।
हिंसा का कोई था न छोर।

अजमेर गोधरा दहक रहे, 'धू-धू-धू-धू' अहमदाबाद,
दिशि-दिशि विनाश की आंधी का नर संहारक प्रलयी प्रमाद।
कैलाश-कुमारी अंतरीप।

लज्जा से अवनत हिमकिरीट, सतपुड़ा, अर्वली नमित विंध्य,
कृष्णा, कावेरी, सिंधु, गङ्गा, ताप्ती, क्षिप्रा, चम्बला वंद्य।
कटु क्रन्दन था सब के समीप।

बद्रीविशाल से रामेश्वर, वह दिव्य द्वारिका, जगन्नाथ,
शरणार्थी जनका शिविर बना सम्पूर्ण राष्ट्र आश्रम अनाथ।
पञ्जाबी, सिंधी बङ्ग-पुत्र।

हैदराबाद के लक्ष—लक्ष शरणार्थी आये मध्यप्रांत,
थी सब की हाहाकारों में बापू की वाणी "शान्त! शान्त!"
रे, जोड़ो टूटा प्रेम-सूत्र।

सरदार जवाहर गरज उठे "बस, बन्द करो यह प्रलय-गान,
है राज्य-कर्म अपराध-दण्ड, जनता न हाथ में ले विधान।
सरकार सुरक्षा को समर्थ।

यदि पाकिस्तानी उन्मादी आ, करें हिन्द की शांति—भंग,
शासन देगा वह दण्ड उन्हें पाया कि रुद्र से जो अनङ्ग।
अब हों न राज्य–पथ विघ्न व्यर्थ।"

बापू की नैतिकता, शासन—कर्तव्य—निष्ठता का प्रभाव,
हिन्दु जनता के मन का कुछ बदला प्रतिहिंसा का स्वभाव।
था वशीकरण वह प्रेम–मंत्र।

पर प्रेम–अहिंसा की वाणी कुछ दुर्मदांध को थी न सह्य,
शुचि पयधर से भी जोंकों को होता है केवल रक्त ग्राह्य।
वह सविष स्वप्न था 'एक तंत्र'

'हिन्दु—शासन' की गरलपूर्ण आकांक्षाएँ थीं वर्धमान,
ले 'आर्य–सभ्यता, संस्कृति का' वाणी में मोहक मधुर गान।
भोले जन में भ्रामक प्रचार।

'शिव'[1] की प्रतिभा की शपथ दिला, हल्दीघाटी के सुना गीत,
मुस्लिम जनकी हत्याओं में बतलाते करतल पर अतीत।
'हिन्दु—संस्कृति-तलवार–धार।'

पर बापू का 'वसुधा—कुटुम्ब' इस विष को देता था उतार,
सङ्कीर्ण हिन्दुता का भुजङ्ग निर्विष, था शिव के कण्ठ—हार।
विष घृणा-द्वेष, औषधि दुलार।

"ईश्वर में जाति–प्रपञ्च नहीं 'अल्लाह' 'ईश' संज्ञा अनन्त,
वह सत्य, अहिंसा सदाचार, उसही को कहते 'प्रेम' सन्त।
वैदिक संस्कृति में कब विकार!"

जाग्रत करता धर्मांध दैत्य भोली जनता में रक्त—प्यास,
कर प्रेम–पान सब तृप्तप्राय, रवि–सम्मुख तम निष्फल प्रयास।
दानव की झुँझलाहट अपार।

शासन-तृष्णा, धन-लिप्सा या जाग्रत होती जब काम वृत्ति,
हो जाती जन की बुद्धि भ्रष्ट, कटु लगती वाणी 'स्वस्ति! स्वस्ति!'
निस्साध्य रोग, व्यर्थोपचार।

1–छत्रपति शिवाजी

बापू कि सत्य-शशि-सौम्य किरण, निश्छद्म प्रेम, पावन पराग,
जग-तिमिरावृत पथ के प्रकाश जिनमें न द्वेश जिनमें न राग ।
जो चाहे, ले निज पंथ खोज ।

दीपक तो बिखराता प्रकाश, दुर्भाग्य पांथ पथ जाय भूल,
प्यासा न पिए कि पिए पानी, छलछलता सरिता का दुकूल ।
मधुकर ! मधु से पूरित सरोज ।

अनुदिन अनुचित संस्कार सुदृढ़, मानवता के विपरीत भ्रांति,
"गांधी रिपु है जो दबा रहा निज प्रतिभा से हिन्दुत्व-कांति ।
प्रोत्साहन पाते मुसलमान ।"

पर बापू तो वह प्रेम कुञ्ज जिसमें रमते अल्लाह—राम,
हिन्दू हो अथवा मुसलमान जो वैर-श्रांत, सब ले विराम ।
ज्यों नील गगन सब का वितान ।

सब का जीवन गङ्गा का जल,
तरु की छाया सब पर शीतल ।
नभ का समीर सब का स्पन्दन,
रवि, शशि, सज्जन सब ही के धन ।

षोडषोर्मि

बापूका विषाद

प्रार्थना--प्रवचन

बिन्दु १

छन्दातीत गिरा बापू की, नीत्यतीत सिद्धांत मनोहर,
सत्य-अहिंसा की परिभाषा।
साँस--साँस में राम अनवरत, स्नायु-स्नायु में ममता-निर्झर,
विश्व-बंधुता की अभिलाषा।
स्नेह-शून्य रीते पात्रों को करते पावन प्रेम-प्रपूरित।
वे स्वाती-घन, चातक प्राणी।
वे वेदों कि मञ्जुल वाणी चिर निर्मल श्रुतियों से अन्वित—
"संस्कृति पड़ती मोल न लानी।
संस्कृति का उद्भव होता है सद्कृतियों से, सदाचार से,
धूम्र-अनिल--जल जैसे पयधर।
विष से कल्मष कभी न धुलता, धुलता वैर सुविमल प्यार से।
वेणु-रंध्र--स्वर, दंश न विषधर।
मानव तन में पशुता कैसी आम्र-वृक्ष में जैसे विष-फल?
द्राक्ष--फलों की कहाँ मधुरिमा?
बंधु-बंधु से आत्म-विघातक शोभनीय क्या क्रूर छद्म-छल?
नर-तन से तब तो शुभ प्रतिमा,
जिसमें बैर न द्वेश, घृणा, छल, निर्विकार चिर निस्पृह अंतर,
प्रतिकारों का भाव न जिसमें,
जो प्रस्तर होकर भी धृति या सहनशीलता-गुण की अनुचर।
कोई राग-दुराव न जिसमें।

धर्म न सीमित शिखा-सूत्र में, नहीं चिन्ह हैं शिखा-रहित शिर,
वेश--विभूषा धर्म न लक्षण ।
संज्ञा भिन्न-विभिन्न भले हों प्रभु की साच्छिव सत्ता तो चिर
जिसकी आभालोकित कण-कण ।

धर्म सत्य है, धर्म अहिंसा, चारु चरित, चिर प्रेमाविल उर,
पर तिय, पर धन दृष्टि पुनीता,
हिन्दू—मुस्लिम आदि नाम हैं जागृत करने को धर्मांकुर,
प्रेम पढ़ाती कुरान-गीता ।
यही धर्म—पञ्जाब—भूमि पर हिन्दू—शोणित सिंधु भरा हो ?
खुदा काल का दूत बना हो ?
'खुदा ! खुदा !' की द्रावक ध्वनियाँ, दिल्ली का ईश्वर बहिरा हो ।
प्रलय-विनाश-वितान तना हो ?

यही मुहम्मद ने सिखलाया--मानव—शोणित पान करो तुम ?
रुधिर-तृषा-आतुर हो रसना ?
यही राम ने कहा—मनुज को खा कर ही अभिमान करो तुम ?
सदा स्मशानों में ही बसना ?
इसी धर्म के संस्थापन को युग-युग में अवतार उतरते ?
या कि साधु-जन—परित्राण को ?

'दुष्कृतियों के विनाश' का क्या यही अर्थ विद्वज्जन करते—
रहो समुद्यत रक्त-पान को ?
मुसलमान प्रज्ञा खो बैठे, धर्म—अंधता—भूत हृदयतल,
पाकिस्तान बना है रौरव,
आर्य—सभ्यता के उन्मादी हिन्दू प्रतिहिंसा से पागल,
गरल—स्नात ऋषियों का गौरव ।

'सवा लक्ष सम एक सिख बल' तो विनाश को या रक्षण को ?
अतुल शक्ति का अशिव प्रयोजन ?

कृषि-सिंचन को या कि प्रलय को एकत्रित करता नभ घन को ?
अग्नि यज्ञ को या कि दहन-वन ?
एक गेह विक्षिप्त एक जन, दश जन परिचर्या को तत्पर,
सब के मन आरोग्य–कामना,
पर पागल जब दश के दश जन, वह घर तब कहलाएगा घर ?
सोचो यह दुस्सह्य कल्पना।
सोचो क्या, प्रत्यक्ष आज तो हिन्दू–मुस्लिम अंध हो रहे,
शिशु–वध, मानव-मेघ भयावह,
शस्य-श्यामला, सु-फला भू पर दोनों ही विष–बीज बो रहे
सींच रहा जिसको कि रक्त बह,
अगणित वीरों के प्राणों की आहुतियों से मुक्ति मिली है,
उदित युगों की प्रखर तपस्या।
जयश्री के पद के चुम्बन को मानस की कलियाँ मचलीं हैं,
सुलझी श्रम से कठिन तपस्या।
अपने ही हाथों से उसको हम फिर उलझाने को आतुर,
माँ का उर दो खण्ड हो गया।
पराधीनता के शूलों के पुनः उगेंगे क्या नव अंकुर,
आंग्ल कि जिसके बीज बोगया।
हिन्दू महिला के सतीत्व पर मुसलमान यदि हाथ डालता–
मातृ जाति का तिरस्कार है।
मुसलमान वह नहीं, नराधम धर्म–तत्व का हृदय सालता
मुस्लिम मज़हब का कुठार है।
'मातृ सदृश पर दारा' का शुचि मंत्र आर्य–संस्कृति का द्योतक
इन्द्रिय–निग्रह, धृतिः, क्षमा, दम।
वेदों की भी दृष्टि न पहुँची प्रतिहिंसा के भाव–कोष तक,
सिंधु न तजता तट का संयम।

पाकिस्तान भले ही ओले अथवा अंगारे बरसाए
नर-पिशाच या पशु बन जाए।
मरघट की ज्वाला न हिंद के नन्दन-कानन को छू पाए,
सदा सुधाकर सुधा बहाए।
भारत के सब मुसलमान जन भारत के प्रति राज्य-भक्त हों,
झण्डा जिसका दिव्य तिरंगा।
भारत में हैं यदि तन उनके हृदय 'पाक १' से अनासक्त हों,
बहे रक्त में पावन गंगा।
यदि दिल्ली के सिंहासन के प्रति श्रद्धा, कर्तव्य-निष्ठ हों
हृदय शुद्ध मधुपूर्ण पद्म सम।
शासन का दायित्व कि उसके आश्रय में उसको न कष्ट हों
निष्कण्टक पथ हो अभयोद्गम।
वे प्रमाण में राज्य-भक्ति के, सब शस्त्रास्त्र समर्पण कर दे,
शासन को दें निज संरक्षण।
भयाक्रांत का हिंदू जनता स्नेह सुधा से तर्पण करदें,
हो उदारता का अनुशीलन।
हैं पञ्जाब-धरा की कातर चीत्कारें मेरी श्रुतियों में,
अनुनययुत वे साश्रु बिलोचन।
दिल्ली का आतंक विघ्न पर बना हुआ मेरी गतियों में,
प्रथम विलय हों ये विग्रह-घन।
हुई नहीं यदि शांत यहां पर 'जय बजरंगी' की हुंकारें,
मुस्लिम जन-मन नहीं अभयता।
रोकूँगा पञ्जाब पहुँच कर कैसे इस्लामी तलवारें ?
नर-संहारक वह तन्मयता।
यहां शांति हो तभी वहां पर उन्हें शांति को कह पाऊँगा।
'देखो दिल्ली की बांधवता।'

१—पाकिस्तान

यहाँ प्रेम हो, वहाँ सभी को प्रेम-घाट पर ले आऊँगा।
निशि में दीपक व्यर्थ न जलता।
मैं हिन्दू हूँ, अतः सिक्ख हूँ, मुसलमान हूँ, ईसाई हूँ,
'प्रेम' धर्म है सभी मतों का।
सब को सत्य कहूँगा निर्भय क्यों कि सभी का मैं भाई हूँ।
सत्पथ 'स्नेह' सभी संतों का।"

कलङ्क

बिन्दु ?
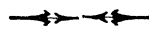
"स्वतन्त्रता के बालारुण पर राहू की यह कलुषित छाया !
नव वसंत में ये काले घन !
नव निर्मिति के स्वर्ण क्षणों में काल प्रलय लेकर है आया,
अश्रुपूर्ण आशा के लोचन।
भारतीयता पर कलङ्क यह, उदयाचल का उन्नत शिर नत,
बन्धु-बन्धु श्वानों से झपटें !
दो संस्कृतियों की दुष्कृतियाँ मानवता के क्षय में हों रत,
अन्तरिक्ष तक पहुँचें लपटें !
कह पाए जग-स्वतन्त्रता का हमको है उपभोग न आता,
जग-गुरु में नैतिक अयोग्यता।
है कितना आरोप दुसह यह 'दिनमणि को न प्रकाश सुहाता'।
काग-तीर्थ को हंस भोगता।
श्री चर्चिल की सदर्प वाणी 'आंग्ल-छत्र-छाया के हटते
हिन्दू-मुस्लिम दैत्य बन गये।
अभी बहुत अवशेष नाश है, पूर्ण न वे जो मस्तक कटते,
अभी न शव से सिंधु पट गये।

नहीं हिन्दियों में प्रबुद्धता जो कि करे शासन-सञ्चालन
सिंधु न आता क्षुद्र पात्र में,
आंग्ल जाति ही मात्र जानती—कैसे करना होता शासन,
कहाँ योग्यता एक छात्र में ?'

विश्व हमारी अयोग्यता पर घड़ों घृणाएँ ढुलकाएगा,
रोएगा इतिहास अश्रु भर,
भूमि न आश्रय, मलय न स्पन्दन, कांति न अग्नि देव लाएगा,
अन्तराग्नि में होंगे हम क्षार ।

जन साधारण का न दोष यह, विद्वज्जन दुर्भाग्य–विधाता,
जो रसूल के नव्य संस्करण (!)
आज मुहम्मद का वह पावन प्रेम–धर्म संहार सिखाता,
प्रेम-पयोधर हैं अब विष-घन ।

पाकिस्तान नहीं प्रतिपादित कर सकता अपनी अदोषता,
'घृण्य उपद्रव कुछ नृशंस के ।'
पर नृशंसता पलती जिसमें क्या वह शासन की सुयोग्यता !
लक्षण ये तैमूर–वंश के !

सत्ता के भी हाथ रक्त में रँगे हुए हैं नृशंसजन सह,
नहीं उपद्रव वे निष्प्रेरित,
अबोध जनता को मजहब की भंग पिलायी जाती रह–रह
वह नरमेध व्यवस्थित, योजित ।

शासन को इस्लामी कहना है कलंक इस्लाम–धर्म पर
सत्शासन-जो हो जनता का ।
जिसमें हो विश्वास सभी का, जिसकी हो सम-दृष्टि सभी पर
ज्यों कि चन्द्रिकोज्ज्वल शुभ राका ।

सत्शासन संकीर्ण, संकुचित सम्प्रदाय से ऊपर होता,
जैसे रवि का, शशि का शासन ।

जैसे पयधर जगकी प्यासी आशाओं के दीप सँजाता ।
सुस्मित शतदल ज्यों सौरभ-कण ।
पाकिस्तान न वाणी तक ही रखे 'शांति' का तत्व सुरक्षित,
कथनी, करनी में न भेद हो ।
चारु तिरंगे की छाया में मुस्लिम जनता रहे न शंकित,
यदि कि शुद्ध, व्यवहार वैध हों ।
हिन्दू वंद्या वैदिक संस्कृति 'प्रेम–अहिंसा' को न भुलाएँ,
अल्प न अनुभव करें अल्पता,
ईश्वर औ' अल्लाह प्रेम के पावन मानस पर मिल जाएँ
जन-जन-मन हो पद्म-फुल्लता ।
वैमनस्य, विग्रह, अयोग्यता के कलंक के दर्श नहीं हों,
हों निन्दक के मुख पर ताले ।
क्या न अशोभन यह यदि चाहे एक–इतर को हर्ष नहीं हो,
यह विहँसे, वह आँसू ढाले ।
सब चाहें सब का सुख, सम श्री, सम सम्मान, समुन्नति सब की
सब मन पूनम का मयङ्क हो ।
स्नेहमयी सत्कीर्ति सभी की प्रातर्शतदल के सौरभ की
माँ के, मावस नहीं अङ्क हो ।"

रामराज्य : अधूरा स्वप्न

बिन्दु ३

"टकराते हैं शब्द रम्य ये रह–रह कर मेरी श्रुतियों से—
'भारत आज स्वतन्त्र हो गया ।
किंतु न करते यह प्रतिपादित भारतीय जन निज कृतियों से,
प्रेम न जाने कहाँ खो गया ।

स्वराज्य वह, जिसमें कि प्रेम के दशों दिशा से झरने फूटें
कल-कल-कल संगीत सुनाते।
यह नहीं कि मानव-मानव पर चिर भूखे श्वानों पर टूटें
पुण्य भूमि पर रक्त बहाते।
विग्रह की इन लपटों में है नव्य दासता को आमन्त्रण,
विगत शृङ्खला के नूतन स्वर।
स्वतन्त्रता न रहेगी रक्षित, भवन टिकेगा नहीं एक क्षण,
भित्ति न जिसकी प्रेम-नींव पर।

रामराज्य वह-यदि कि जवाहर के शासन में हो दुरवस्था—
यदि समर्थ सरदार नहीं हों
पद-च्युत कर सकती हो जनता करने अन्य सुचारु व्यवस्था,
शासन जन पर भार नहीं हो।
किंतु जवाहर की सुयोग्यता में शङ्का को स्थान नहीं है,
जात्यतीत वह योग्य विधायक।
सम्प्रदायगत क्षुद्र भावना जिसको सपने में न छुई है
श्री सरदार न अयोग्य नायक।

पर मेरे शुचि राम राज्य में है पर्याप्त नहीं इतना ही—
योग्य राज्य के हों सञ्चालक।
किंतु योग्य हो सब जनता भी, प्रेम-पंथ के हों सब राही,
मात्र प्रेम हो सब का शासक।
सुनता हूँ धार्मिक प्रवञ्चनाओं का वातावरण शांत है,
यह ध्वनि शुभ, संतोषदायिनी।
किंतु शांति वह नहीं—राज्य के भय से जनता भ्रांत नहीं है
शांति सहज हो सौख्यवाहिनी।
राम-राज्य वह—जनः-सुरक्षा प्रेम-सूत्र में स्वयं सुरक्षित,
जन-जन संस्कृत सभ्य नागरिक।

हस्तक्षेप न हो शासन का आवश्यक, हो प्रगति अबाधित—
उसकी औद्योगिक, व्यापारिक।
जनता निजी दैनिक जीवन में समझे अंकुश की न अपेक्षा,
न्याय करे पञ्चों की परिषद।
हो निश्चित आंतरिक स्थिति से शासन सोचे बाह्य सुरक्षा
'दृष्टि न डाले कोई उन्मद।'
राज्य-निष्ठ जन शुद्ध हृदय से, शासन जन-कर्तव्य परायण।
राम-राज्य जनतंत्र वही है।
हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, क्रीश्चियन कहलाएँ सब 'भारतीय जन'
तब 'स्वराज्य' का शब्द सही है।
कृषि, पशु पालन, ग्रामोद्योगिक, उत्पादक शिक्षणशाला में
सब जनता द्वारा सम्पादित।
जन-जन यश-सुरभित प्रसून हो, राज्य-सूत्र हो ज्यों माला में
ज्यों कि शब्द सह अर्थ समन्वित।
प्रति वयस्क जन निर्वाचन में मत-प्रदान का अधिकारी हो,
लिङ्ग, जाति, व्यवसाय न बाधक।
पद-कांक्षी अनुभवी योग्यतम, चारु चरित हो, संस्कारी हो
जो कि राष्ट्र-गौरव का द्योतक।
राष्ट्राध्यक्ष प्रजाजन द्वारा मनोनीत हो या निर्वाचित
सचिवालय तद्वत् सुसंठित।
हो सकता हो एक कृषक भी राष्ट्राध्यक्षासन पर शोभित,
यदि सुयोग्यता हो सम्पादित।
जिस शासन के शब्द-कोष में "अछूतता" का शब्द नहीं हो,
स्नेह साम्य की कल-कल गङ्गा।
एक जननि के कोटि सुतों का ऊँच--नीच प्रारब्ध नहीं हो।
सब का अपना दिव्य तिरङ्गा।

किंतु स्वप्न यह पूर्ण न होगा जब तक जन-जन कलह लग्न है
दूर न होगी यह दुरवस्था ।
उत्पादन, सुसमृद्धि, शांति कब, उत्पादक सँहार—मग्न है
क्या कोई निर्माण—व्यवस्था ?
उन्नति के शत बीज पड़े हैं, भूमि उर्वरा, मेघामृत—वर
किंतु कृषक के हाथ नहीं हल ।
विधि के हाथों में विनाश-शर, "मोरो-मोरो-कोटो" के स्वर ।
कलह-दग्ध वसुधा का अञ्चल ।
उन्नति की इच्छा पर पागल पंथ पतन का गहते जाते,
अग्नि करेगी क्या उर शीतल ?
सत्य अहिंसा-प्रेम-धैर्य के क्यों अंकुर न प्रेरणा पाते ?
बम्बूलों में कहाँ आम्र—फल ?
यदि न यत्न से मेरे, कल्मष धुला और निर्मलता आयी,
राम—राज्य का स्वप्न अधूरा——
समझूँगा—प्रभु को अब मेरी और अधिक सेवा न सुहायी,
दुर्बल देह—प्रयोजन पूरा ।
मानव का निज आकांक्षाओं के प्रतिकूल न जीना अच्छा,
कालक्षेप न शोभा देता ।
वह जीवन है व्यर्थ नहीं जो कर पाए सेवा यदृच्छा,
साँस न जो उच्छ्वासें लेता ।"

दक्षिण-आफ्रीका के प्रवासी ।

बिन्दु ४

'रङ्ग भेद' बापू के उर पर प्रथम—प्रथम आघात हुआ था
अरुणोदय के प्रथम प्रहर में ।

डरबन ट्रांसवाल के पथ पर एक बिच्छु का दंश छुआ था
गौर-दर्पता-सदर्प स्वर में ।
"नहीं स्वत्व काले कुलियों को उच्च श्रेणियों में प्रवास का"
स्वत्व-समर्थन पदाघात था ।

इसी घात में किंतु छिपा था समुदय प्राची के प्रकाश का ।
अंकुर भारत के प्रभात का ।
अहरह स्मरण रही आफ्रीकी प्रवासियों की करुण कहानी
"सत्य सदा विजयी" मञ्जुल स्वर ।

गाय गेह, पथ में या वन में खाते चारा, पीते पानी—
बछड़े को न भुलाती क्षण भर ।
"आह, आज भी आफ्रीका में रङ्ग भेद का सर्प फुङ्कारित,
वह ही दुर्मानव—प्रवञ्चना ।

गौर--सुरक्षित क्षेत्र, हिन्दियों के प्रवास के लिए विवर्जित,
गर्व गौरता का यह कितना !
अष्टावक्र कि विदेह कोई गौर चर्म—परिधान पहिन कर
क्यों न हुआ उत्पन्न वहाँ पर ?

जो कि बताता भूत-तत्व से पावन मानवता का अन्तर,
'देही होता है देहेतर ।'
पर संतोष कि भारतीयजन गौरव सह सत्पथ-आरोही
मानवता के प्रतिनिधित्व को ।

प्रल्हादों की है इसमें ही शोभा-कहलाएँ 'विद्रोही',
जाने अक्षर आत्म तत्व को ।
आफ्रीका समझे सदसद् को, समुचित है-सौहार्द्र बताए,
गर्व निरर्थक जाति रङ्ग का ।
सत्याग्रही सदा सत्पथ पर वाधा से टकराता जाए,
अनुचर भागीरथ-सुगङ्ग का ।

शत-शत शैल शृङ्ग अवरोधक,
सरिता रत्नाकर-पथ शोधक।
अरुक, अबाध बहे सत्पंथी,
मारुत की गतियाँ उद्बोधक।"

सप्तदशोर्मि

यवनिका-विनिपात

बिन्दु १

अद्यावधि विधि-गति के सम्मुख चला किसी का भी न उपाय,
हाय लेखनी ! लिखना होगा तुमको ही अन्तिम अध्याय ।
शतधा होता है वक्षस्थल कर कृतघ्नता का अनुमान,
उपकारों का इस जग में क्या प्राण-हनन ही है प्रतिदान ?
यही रसूलों, ईसाओं को हाय मिला था प्रत्युपकार,
दयानन्द, श्रद्धानन्दों के उत्सर्गों की यही पुकार ।
सरस मुरलिका जिसके सुमधुर सप्त स्वरों में केवल प्रेम,
सत्य-अहिंसा का मंगलमय ईश्वर करता योगक्षेम ।
कभी कल्पना में कि न जिसके आया कलुष शब्द 'आदान',
जिसकी वरद गिरा मे सीखा केवल प्रेम-प्रदान, प्रदान ।
वह दानी जो देना सीखा ज्योति, प्रेम, वत्सलता, ज्ञान,
क्यों होता संकोच रञ्च भी उसको देते त्राण निज प्राण ?
किंतु प्राण के प्यासे जन की कैसी अधम तृषा दुर्वार ?
दीप बुझा कर अन्धकार में पंथ खोजने का व्यवहार ।
एक बन्धु यदि पशु बन जाए, चाहे भू पर रक्त-प्रवाह,
अनुचित क्या यदि कहें इतर से "बंधु ! न भूलो तुम तो राह ।
यदि त्रिदोष है एक बन्धु को, इतर गहे क्यों पथ प्रतिकूल ?
यदि स्वभाव शूलों का चुभना, भूल जाय क्यों मृदुल फूल ?
सम्प्रदाय के अन्धकूप में यदि अविलोचन का विनिपात—
सविलोचन मानव क्यों गिर कर करें स्वयं ही आत्म-विघात ?
विषद वैर के विष की औषधि प्रेम, अहिंसा-समता पथ्य,
दीप्त अनल में प्रतिहिंसा घृत, मात्र विनाश निकलना तथ्य ।"

संत जो कि शुचि विश्व–नागरिक इष्ट पुण्य 'हों सभी स्वतन्त्र।
हो सम्राट न नृपति निरंकुश, सर्व धर्म–सम्मत जनतन्त्र।'
कैसे सह सकता भारत पर वह एकाङ्गी हिन्दू–राज्य?
धर्म–अन्धतावश नर–निर्मित वर्गों में मनुजत्व विभाज्य?
था विरोध संकीर्ण वृत्ति से सम्प्रदाय जिसका आधार,
कभी एक देशीय न होता रवि–शशि–पयधर का मृदु प्यार।
प्रतिहिंसा–प्रेरित पशुता पर प्रेमध्वनियाँ थीं प्रतिघात,
"गांधी उदय न होने देता हिन्दू–राज्य–सुरम्य प्रभात।"
मुस्लिम जन सह विमल प्रेम का, विश्व--बन्धुता थी आधार,
पर 'हिन्दू' के लोचन में था पक्षपात या अधिक दुलार।
'प्रतिहिंसा के भाव दमन' का अर्थ हुआ 'प्रोत्साहन कृत्य',
दृष्टि संकुचित क्या पहिचाने बैर रहित सत्स्नेह कि सत्य?
प्रेम, अहिंसा, दया, क्षमा, दम लगे शूल के सब उपमान,
सम्प्रदाय पर आधारित था विषमय 'हिन्दू-राज्य' विधान।
"हिन्द हिन्दुओं का ही केवल मातृ–भूमि या पितृ प्रदेश,
अन्य समाश्रित रहें दया के बन अनाथ अथवा कि अशेष।"
पाकिस्तानी दुष्कृतियों का पैशाचिक था उधर प्रवाह,
इधर हिन्दुओं के उर में था प्रतिहिंसा का रोष अथाह।
"शांति! शांति!" बापू की वाणी "नहीं पाप से धुलता पाप,
ज्वालाओं से शांत न होगा यह ज्वालाओं का परिताप।"
पर प्रतिहिंसा से पागल कुछ धर्म–अन्धता–तप्त स्फुलिङ्ग,
बम का एक धड़ाका बन कर गरजा दानवता का व्यङ्ग[१]।
पशुता-प्रेरित दुर्भावों का एक व्यक्ति पर दोष न ठीक,
थी सङ्कीर्ण हिन्दुता प्रकुपित मदनलाल[२] था एक प्रतीक।
'हिन्दू–राज्य' स्वप्न था जिनका, संस्कृति, धर्म, सभ्यता आड़,
क्रूर रहे थे निज कृतियों से वैदिक निधि का मूल उखाड़।

१–२० जनवरी, १९४८। २–बापू पर २० जनवरी को बम फेकने वाला।

निष्छलता, ममता, वत्सलता, दया, क्षमा जीवन के अंग,
सत्य, अहिंसा, प्रेम, धैर्य, दम जिस मानस की विपुल तरंग।
जिसके सुविमल वक्षस्थल में रहा किसी के प्रति न दुराव,
उस निर्वैर बन्धुता के प्रति इतनी तीव्र घृणा का भाव?
निहित स्वार्थ कुछ दुर्मानव का खोज रहा अवसर अनुकूल—
"हो यह 'प्रेम-शांति' का दुस्सह निर्विलम्ब कण्टक निर्मूल।"
दीर्घ काल से जो कि दनुजता 'कट-कट' दांत रही थी पीस—
आयी युग-उर पर प्रहार-सी तीस जनवरी, अड़तालीस[1]।
धर्म-सभ्यता की, संस्कृति की श्रुति-प्रिय वह विषमयी पुकार,
'धड़-धड़-धड़' कर तीन गोलियाँ थीं मृदु वक्षस्थल के पार।
रहा राममय जीवन जिसका, साँस-साँस में जिसके राम,
अंतिम क्षण भी राम-मूर्ति के शुचि मुख से निकला "हे राम!"
पुण्य प्रार्थना-स्थल पर बापू ओ दधीचि नव अर्वाचीन,
रमे राम में ही जीवन भर, अन्त राम में ही थे लीन।
पर 'धड़-धड़-धड़' तीन गोलियों से सभीत औ' त्रस्त त्रिलोक,
आकुल जग-दृग-वारिवाह में शोक, शोक, हा केवल शोक।
नाथूराम गोडशे प्रतिनिधि, प्रेरक भ्रामक हिन्दून्माद,
सहस्राब्दि की स्वर्णिम संस्कृति पर था शोणितपूर्ण विषाद।
मानव आज मनुजता तज कर प्रकटा बन हिंसक पशु वन्य,
आर्य धरा ने प्रथम बार हा देखा यह दुष्कृत्य जघन्य।
उदयाचल की स्फटिक शिला पर प्रथम बार यह काली रेख,
प्रथम बार ही संत-रक्त से लिखा गया यह विधि का लेख।
हाय भारती! भारतीयता पर यह कैसा अमिट कलङ्क,
कल्पान्तों का विस्मृति-वारि भी धो न सकेगा जिसका अङ्क।
आज असित शशिका सित-स्मित मुख, दिव्य दिवाकर-वदन विवर्ण,
आत्म-ग्लानि-अनुतप्त, व्यथा से विकल साश्रु छन्दों के वर्ण।
गङ्गा-यमुना अरुक अश्रु-जल, करुणार्द्रित हिमगिरि निरुपाय,

[1] १-सन् १६४८।

रुक-रुक कर सविषाद विश्व की, श्लथ गति सकरुण मलयज, हाय।
"बापू गये।" कि सागर गति-गत, शतधा वसुधा का मृद वक्ष,
अवनत शिर करुणार्द्र तिरंगा जग की श्रद्धा के समकक्ष।
विदिशाओं के वक्षस्थल पर उल्कापात कि वज्राघात,
इतिहासों ने कभी न देखी होगी इतनी काली रात।
कभी न इतने अश्रु रक्त के बरसा पाया होगा व्योम,
कभी न इतना ग्रसित राहु के दुख से देखा जग ने सोम।
आज हुआ वसुधा पर जितना निर्मम कलुषित कृत्य जघन्य,
अन्तरिक्ष ने देखा होगा कभी न मरघट इतना शून्य।
आह, एक हिन्दू के द्वारा विश्व-बन्धुता पर आघात,
सदुख हिन्दुता विवश देखने निज नयनों से निज विनिपात।
राष्ट्र पिता का वध करके हम स्वयं हुए हा, आज अनाथ,
विधि-विरचित दुर्भाग्य न रे यह, स्वयं रचित यह काली रात।
विकल विश्व के सब राष्ट्रों की नमित ध्वजाएँ सह सम्मान,
नक्षत्रावलियाँ विधवा-सी, द्युति पर घन-आवर्त-वितान।
तरुदल, पल्लव में, पुष्पों में नहीं मधुर मधु, मलय प्रवाह,
वृहद् विश्व-दृग-श्रुति में केवल खारे आँसू और कराह।
अशिव सूचना से इस, जग था स्तब्ध कि जैसे पक्षाघात,
व्यथा प्रवाहित करने में थे सक्रिय केवल नयन-प्रपात।
मुख का ग्रास गिरा पृथ्वी पर, कर से छूट पड़ा जल-पात्र,
जो जन जैसी भी स्थिति में था, रहा सन्न, बस प्रतिमा मात्र।
पर जग की इस दुसह व्यथा पर हत्यारे थे अमित प्रसन्न,
बापू के वध के उत्सव (!) में गटक रहे 'गट-गट' मिष्ठान्न।
एक ओर हो रही दुःख से जग की चेतनता निष्प्राण,
अट्टहास कर रहे उधर थे नर-पिशाच के उर-पाषाण।
वैदिक संस्कृति ने न कभी भी पूर्व सहा इतना अनुताप,
नाथूराम गोडशे बन कर उतरा भू पर जो अभिशाप।

सघन वेदना–तम से आवृत इन्द्र धनुष के सातों रंग,
तीक्ष्ण शोक–शर सह प्रलयातुर अश्रु–मेघमाला चतुरंग।
कवियों की पहिले न कभी भी वाणी इतनी रही विपन्न,
लेखनियों ने देखी होगी कभी न करुणा इतनी खिन्न।
नहीं विश्व के शब्द–कोष में संग्रहीत अब तक वह शब्द,
व्यक्त कर सके जो वसुधा का यह दुर्भाग्यपूर्ण प्रारब्ध।

हा बापू !

बिन्दु ?
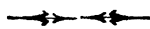
हा बापू ! ये घाव न वे जो श्रद्धाञ्जलियों से भर जाएँ,
ऐसी–वैसी पीर नहीं यह जिसको ये आँसू धो पाएँ।
शोक–सिन्धु का नाम सुना था कभी किन्हीं ठण्डी आहों से
हाय उसी में डूबे देखे कोटि–कोटि दृग दर्शन–प्यासे।
कभी सुना था कवि तुलसीसे 'बिछुड़त एक प्राण हर लेई।'
हम पर ही यह गाज गिरेगी, कभी न सोचा सपने में ही।
कब सोचा था, निरुदर राहु कि यों दिनकर को ग्रस जायगा ?
कब सोचा था, ग्रसाहुआ रवि पुनरपि प्रकट न हो पाएगा ?
अब तक आते थे नभ में घन स्वाती का शीतल जल लेकर,
आतप से आकुल प्राणों को जाते थे सुख के कण देकर।
किंतु आज घन उमड़े उर के आँखों में जल–प्लावन लेकर,
आँसू की सरिताएँ उमड़ीं निखिल सृष्टि का सौख्य बहा कर।
अंधकार, घन–अंधकार ही दशों दिशा से घिर–घिर आता,
इन्दु ! इन्दु क्या लघु तारा भी आशा बन कर झाँक न पाता।
इस काली रजनी में बापू ! प्रातर्मलय समीर कहाँ है ?
नाविक नैया छोड़ गये तुम, क्या जानें हम तीर कहाँ है ?

नहीं, नहीं, ओ बापू ! तुमने कभी न नैया को छोड़ा है
अपने हाथों पत्थर लेकर हमने अपना सिर फोड़ा है।
अपने हाथों से आँखों में हमने तीखे तीर चुभाये,
विष के प्यालों पर प्याले हम पीते-पीते नहीं अघाये।
बापू ! बापू ! क्या जग हमको अब भी मानव--संज्ञा देगा ?
क्यों न घृणा के दृग से भावी का इतिहास अवज्ञा देगा ?
हम अधिकारी हैं रोने के, मरना है अधिकार हमारा,
किंतु न मरने देगा बापू ! यह पावन बलिदान तुम्हारा।
पिण्ड छोड़ ब्रह्माण्ड बने तुम, साँस छोड़ कर मलय समीरण,
स्तब्ध बना धड़कन लघु तन की आज बने हो जग के स्पन्दन।
बापू ! अब तुम देह नहीं हो, तुम हो रवि-शशि, तुम हो तारे,
युग-युग चलते जाएँगे हम देख-देख पद-चिन्ह तुम्हारे।

महा मानव

बापू ! क्षुद्र स्वार्थ वाले तुम मानव नहीं, महा मानव थे,
इस युग की आवश्यकता की पूर्ण पूर्ति के प्रादुर्भव थे।
स्वार्थों की ज्वालामुखियों के विस्फोटों से झुलसित जग था,
था निमग्न विज्ञान नाश में, संस्कृति का जीवन डगमग था।
राष्ट्र राष्ट्र को निगल रहा था, बन्धु बन्धु-शोणित का प्यासा,
श्वेत--कृष्ण था चर्म मनुज की ऊँच-नीचता की परिभाषा।
मानव के उर में मानवता-व्याघ्र-करों में मृग-शावक-सी,
अन्धकार में सिसक रही थी एक किरण विद्युति की प्यासी।
तब तुम आये जग में बापू ! पाते ही युग का आमन्त्रण,
आलोकित हो उठीं दिशाएँ, अन्धकार ने किया पलायन।
पशुबल वैज्ञानिक यन्त्रों पर घोषित करता था दुर्जयता,
जुगनू समझ रहा था निज की रवि से बढ़कर ज्योतिर्मयता।

तब तुम आये सत्य—अहिंसा के दो दृढ़ महास्त्र सँभाले,
पशुबल झुका चरण पर, जुगनू गये निशा के साथ विदा ले।
दिखा दिया पश्चिम को—दिनमणि सदा पूर्व में ही उगता है,
....और न बिजली से, रवि से ही मानस का शतदल खिलता है।
मृत्युञ्जय ! तुम को खाने को रही समुत्सुक मृत्यु युगों से,
दुर्घटना के विविधायुध ले किये आक्रमण यहाँ—वहाँ से।
किंतु मृत्यु के कालिनाग—सी नाथ डालदी बापू ! तुमने,
हार मान ली आज तुम्हारे सम्मुख यम के अटल नियम ने।
तुम उसके शिर पर पद रख कर लाँघ गये नश्वरता का गढ़,
नियति न मिटा सकेगी जिसको, छोड़ गये पद-चिन्ह अमिट, दृढ़।
युग आएँगे, युग जाएँगे पर तुम सदा रहोगे बापू !
भ्रान्त विश्व को स्नेह—शांति शुभ सन्देश कहोगे बापू !

अश्रु-प्रपात

बिन्दु ३

आह, एक पागल के द्वारा कैसा कलुषित, कुत्सित कृत्य,
बुझा दिया रे, क्षुद्र मनुज ने जगमगता जीवन का सत्य।

+ × + ×

अनुभव करते सकरुण लोचन यद्यपि वसुधा सूर्य विहीन,
किंतु रहेगी उसकी आभा युग—युग हृतमन्दिर आसीन।

—जवाहर

(भारत मन्त्री, पं० जवाहरलाल नेहरू)

इस दुर्भाग्यपूर्ण बेला में अखिल जन—जन—नयन-दुकूल,
सच्छ्रद्धाञ्जलि—चलें कि बापू के आदर्शों के अनुकूल।

—वल्लभभाई

(गृह-मन्त्री स्व० सरदार वल्लभभाई पटेल)

अशेष वह प्रतिमा वसुधा से, अब न मिलेगा चरणस्पर्श,
वह स्मित हास न सुमधुर वाणी देगी दृग-श्रुतियों को हर्ष,
पर प्रिय बापू पञ्चभूत की, हो सीमित सत्ता के पार—
सदा करेंगे पथ आलोकित भ्रांत मनुजता का आविष्कार।

(देशरत्न)—राजेन्द्रप्रसाद

विविध वाणियों में, छन्दों में व्यक्त कर चुका जग निज शोक—
ग्रहण करे अब—विश्व-बन्धुता, सत्य, अहिंसा का आलोक।

(भारत कोकिला, स्व०) सरोजिनी नायडू

उर को तो विश्वास न होता—रहे न बापू विश्व-उपास्य,
नर-तन धर भू पर उतरा था योग याकि गीता का भाष्य।

कन्हैयालाल-माणिकलाल (मुन्शी)

चिर अवैर बांधव के वध का, छिपका रे, यह घृण्य कुकाम,
प्रेम, अहिंसा, दया, क्षमा की प्रतिमा को निश्शब्द प्रणाम।

(आचार्य) क्षितिमोहन सेन

बापू चर्खे की तानों में गाते जो सेवा के गीत,
सदा रहेंगे गुञ्जित नभ में, होंगे नीरव औ' न अतीत।

(आचार्य) गुरुदयाल मल्लिक

वैदिक संस्कृतियों का प्रतिनिधि, शुभ्र सन्त-संस्कृति साकार—
भारतीय भूषा-आभूषित मानव-संस्कृति का अवतार।

(आचार्य) किशोरभाई मश्रुवाला

अपने जीवन के क्षण-क्षण का चुका गये प्रिय बापू मोल,
बना गये पर सत्योपासक दुखद मृत्यु को भी अनमोल।

(महापंडित) राहुल सांकृत्यायन

स्वर्णिम जीवन के अभिनय का जो दुखान्त लोहित अध्याय—
'नाथूराम गोडशे' उस ही दुरभिशाप का है पर्य्याय।

भदंत आनन्द कौसल्यायन

हा, मानव की विमुक्ति के हित पुनः सन्त का रक्त-प्रवाह,
बापू-ईश्वर एक हो गये इस जीवन के दो मल्लाह।

(बापू की अंग्रेज शिष्या) मीराबेन

जीवन में जिस महापुरुष को सदा चुभाये हमने शूल—
री, कृतघ्नते ! आज चढ़ाले समाधि पर श्रद्धा के फूल ।

वाईकाउन्ट सेम्यूअल

आशा थी नव प्रभात के सह होगा नव स्पन्दन-सञ्चार,
या फिर रवि ही उदय न होगा, नियति लिए थी किंतु तुषार ।

(म० गांधी के पुत्र) देवदास

आज नित्य की भांति न पाती बापू की मृदु स्मिति या प्यार,
नहीं थपकियाँ प्रेम भरीं वे, उठतीं हा, रह-रह चीत्कार ।

(बापू की परम भक्ता) सुशीला नैयर

अधिकावश्यक जब प्रकाश था, पथ पर थे अधिकाधिक शल्य,
पितृ हीन हो गया राष्ट्र हा, खोकर बापू का वात्सल्य ।

(प्रसिद्ध सामाजवादी नेता) जयप्रकाशनारायण

बतलाती यह दुर्मानव की दुरभि संधि, घटना दुःखान्त,
विश्व न पाया अभी समझने बापू के पावन सिद्धान्त ।

(आचार्य) कृपलानी

शुभ्र वसन्तोत्सव बेला में कैसी यह भादों की गाज ?
हम से तुमको छीन मिला क्या हाय, किसी को बापू ! आज ?

पुरुषोत्तमदास टण्डन

हा, मर्मांतक गगन-गिरा सुन "बापू का सुरपुर प्रस्थान,"
शोकाकुल, अवसन्न, वेदना, तन्द्रिल दृग पर स्वप्न वितान—।
'प्रेम-दया की पावन प्रतिमा कक्ष सुशोभित परिजन सङ्ग,
स्मित वात्सल्यमयी मुख-मुद्रा' नयनोन्मीलन जागृति-व्यङ्ग ।

(प्रसिद्ध धनकुबेर) घनश्यामदास बिड़ला

मृत्यु-लोक को जो कि बनाने को आया था पावन स्वर्ग—
युग युग के पश्चात आज फिर ईसा शूली पर उत्सर्ग ।

(अमेरीकन लेखिका) पर्लबेक

बापू का निर्वाण श्रवण कर होता शतधा हृदय विदीर्ण,
एक अज्ञ पागल ने हम से एक महत्तम निधि ली छीन ।

राजगोपालाचार्य

कलह, घृणा, विद्वेश, वैर औ' हिंसा से संसृति सविकार,
अन्धकार में दीप सदृश था प्रिय बापू का निर्मल प्यार।

(एंग्लो इण्डियन नेता) फ्रैंक एंथनी

एक दिव्य आत्मा को खोकर है अनाथ-सी वसुधा दीन,
दलित जनों का महत् हितैषी अन्तरिक्ष में हुआ विलीन।

(भारत के श्रम मन्त्री) जगजीवनराम

गांधी के जीवन की क्षति से आज हुआ जो रिक्त स्थान—
युग-युग उसकी पूर्ति असम्भव, थे हिन्दूजन-पूज्य महान।

(मिस्टर) जिन्ना

यत्नशील जो रहा प्रेम का प्रतिष्ठान करने अनवद्य—
आह, अहिंसा का संस्थापक बना आज हिंसा का लक्ष्य।

(चीन के राष्ट्रपति) च्यागकाई शेक

आर्यधरा की विषम वेदना बनी विश्व का भी संताप,
कर सकते थे उस पीड़ा का आँसू के निर्झर क्या माप?
अन्तरिक्ष के अन्धकार में सिसक रहा था मलय समीर,
जग की आहों से विगलित थी हिमगिरि की उन्नत प्राचीर।
'अशिव, अमंगल कृत्य हुआ यह' करुणामय ध्वनियाँ सर्वत्र,
मर्माहत थे प्रतिपक्षी भी, मरणासन्न दशा में मित्र।
जो कि रहे जीवन भर करते प्रेम-अहिंसा का प्रतिकार—
''घृण्य कृत्य यह हृदय विदारक'' श्री चर्चिल के भी उद्गार।
देख हिन्द के करुण दृगों में राष्ट्रपिता बापू की याद,
हिंद महासागर के उर-से जग के दृग भी थे सविषाद।
बर्मा, सिंहल, तिब्बत, रशिया, आकुल चीन और जापान,
इराक, टर्की, मिश्र, अरब सह दुखी सीरिया औ' ईरान।
हिन्दचीन, दक्षिण-आफ्रीका, हिन्दएशिया औ' अफगान—
इटली, फ्रान्स, ब्रिटेन, नारवे, स्वीडन, आयर्लेण्ड महान।
जेकोस्लेवेकिया, कनाडा, ब्राजिल नतशिर श्रद्धा-मुग्ध,
अमेरिका, फिन्लेण्ड व्यथित उर, विरह-व्यथा से विश्व-विदग्ध।

ब्रिटेन की वाणी के प्रतिनिधि विज्ञ जार्ज बर्नार्डशा थे खिन्न,
"सज्जनता की अन्तिम सीमा कितनी विपदा-ग्रस्त, विपन्न ?"
शोकाकुल ट्रूमेन-दृगों में अमेरिका का अश्रु-प्रवाह,
खारा पानी लेकर उमड़े दशों दिशाओं से जलवाह।
जग की श्रद्धा-नमित ध्वजाओं से झर-झर झर व्यथा प्रपात,
"हुआ अस्त जो उदित हुआ था ईसा के पश्चात प्रभात।"
युग पश्चात निमिष मुखरित हो पुनः बुद्ध की वाणी मौन,
जिसका उर न विदीर्ण हुआ हो, जग में था वह पत्थर कौन!
सत्य, अहिंसा, दया, क्षमा, दम, प्रेम, मनुजता के सिद्धान्त—
जी भर अश्रु बहा लेने को खोज रहे थे स्थल एकान्त।
चिर अचला चल, विगलित पर्वत, जल तुषार, गत तपन कृशानु,
निशि कहती थी—उदय न होगा अंतरिक्ष में अब फिर भानु।
इस वियोग में कई जनों की हुई हाय हृत्गतियाँ बन्द,
कवि में क्या सामर्थ्य कि लिखता इस विषाद का साक्षी छन्द!
"बापू रहित धरा पर मानव! तेरे जीवन का क्या अर्थ ?"
प्रेम-सत्य के भक्तों द्वारा आत्मघात के हुए अनर्थ।

पन्छी के कलरव में क्रन्दन,
सरिता के कल-कल में आह,
जिधर झाँकलें सकरुण लोचन
उधर वेदना अतुल अथाह।

समाधि का सन्देश

बिन्दु ४
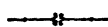
"रघुपति राघव राजा राम, पतित पावन सीताराम,
ईश्वर-अल्ला तेरे नाम, सब को सन्मति दे भगवान।"

दिल्ली नगर अतल करुणार्णव, कोटि नयन गत-मुक्ता सीप,
विपुल वेदना-लहर प्रताड़ित बिरला भवन कि शोकद्वीप।
कोटि तिरंगी करुण ध्वजाएँ नमित अमित श्रद्धा के साथ,
आकुल अचला 'डगमग-डगमग' पकड़ रही थी धृति का हाथ।

बाल-वृद्ध-नर-ललनाओं के आर्द्र नयन पावस जलवाह,
प्रति विदग्ध अन्तर की आहें चपलाओं की करुण कराह।
आह दृगों के जल-प्लावन से दिव्य दिवाकर भी उद्भ्रांत,
लगा-प्रलय-आवृत वसुधा पर होने वाला है कल्पांत।

एक-एक दृग कोटि सदृश बन आतुर पाने अंतिम दर्श,
"फिर न मिलेगा तुम्हें सुशीतल इस निर्मल ममता का स्पर्श।
प्यासे नयन-मधुप! देखो यह भू का उजड़ा हुआ वसंत,
देखो निर्मम हिंसा द्वारा शांति दूत का सकरुण अंत।

बापू की यह शव-यात्रा या मानवता मरघट की ओर——
सत्य-अहिंसा की पतङ्ग की टूट गयी क्या कच्ची डोर?
शत हृदयों को जोड़ न पाये 'ईश्वर-अल्ला' तेरे नाम,
अरण्य-रोदन सिद्ध हुआ हा, 'सब को सन्मति दे भगवान।'"

व्यथा-मथित उर जन-सागर की लहरें राजघाट की ओर,
ऐसी कभी न बरसी भू पर आँसू की झड़ियाँ घन-घोर।
राजघाट ने कभी न देखा ऐसा श्रद्धा का अभिषेक,
दीप्त चिता की ज्वालाओं में बापू का अविकार विवेक

"घृणा भस्म हो, वैर भस्म हो, ज्योतित प्रेम-अहिंसा-सत्य
पञ्चतत्व के पुतले के सह हों विनष्ट जग के दुष्कृत्य।
मानव मानवता अपनाएँ, राम--राज्य का प्रेम विधान,
हो जन--मन की सरिताओं का प्रेम--सिंधु में पर्यवसान।"

हाहाकार भरी चीत्कारें अग-जग अनुरञ्जित सर्वत्र,
'वसुधा से उठ गया गगन में एक महत् उज्ज्वल नक्षत्र।"

शतदल—जीवन सूर्य गया हा, अमृत पूर्ण नलिनी का इन्दु,
अलिदल का अरविंद, चातकों का पयोद, हंसों का सिंधु।
अखिल अरण्य वसंतोत्सव के शुभ आयोजन पर हिमपात,
कलिकाओं के मधु से पूरित मुकुलित लोचन अश्रु-प्रपात।

ऊषा के अधरों की लाली, निशि-शिर संध्या—कुंकुम--रेख
काजल से पुत गयी दिशाएँ प्रिय बापू की ज्योति न देख।
विहगावलियों का चिर मोहक कलरव करता हाहाकार—
वह वसंत की मधुर गायिका कूक नहीं, करती चीत्कार

संसृति ने निर्माण काल से देखी मावस इन्दु विहीन,
ऐसी मावस कभी न देखी जिसमें तारावलि भी लीन।
भादों की काली निशि ने भी देखा चपला का उल्लास,
ऐसी सघन न देखी रजनी, प्रलय—अनिल का रुद्ध न श्वास।

वक्षस्थल शत खण्ड धरा का शत सरिता—स्रावों के साथ,
ऋषियों की कल्पान्त पुरातन संस्कृतियाँ हो गयीं अनाथ।
समाधिस्थ हैं जहाँ कि बापू बसुधा के निर्मुकुट नरेन्द्र—
राजघाट का पावन कण—कण आज विश्व का श्रद्धा—केन्द्र,

वेदों की स्तुतियाँ स्तुति करतीं, गाती गौरव—गान कुरान,
वाणी मञ्जुल "वरं ब्रूहि" की, "सबको सन्मति दे भगवान।"
मानवता का मंगल जिसमें, प्राणिमात्र का जिसमें क्षेम,
अणु—अणु के उर अनुरञ्जित हो प्रेम, प्रेम, बस केवल प्रेम।

व्यक्त करने में उर के भाव
न वाणी होती जहाँ समर्थ
शब्द—सी देहाकृति का मूल
प्रेम ही है जीवन का तत्व।

विविध लहरों के विपुल स्वरूप
एक ही तदपि तरल जल तत्व,
विविध दीपों के स्नेह-समीप
प्रकाशित रहता एक ममत्व ।

विविध सुमनों की सुरभि समान,
प्रेम है मानव-मन-मकरन्द,
मधुर मधु-मोहित मधुप समान
रमा करते हैं जिसमें छन्द ।

अष्टादशोर्मि

पीयूष-कण

सत्य-शिव-सुन्दर संसृति देह, सुवासित श्वास राम विश्वास,
मनुज-तन स्नेह-प्रपूरित दीप, सत्य जीवन का स्वर्ण प्रकाश।
हृदय में जिसके प्रेमाभाव मनुज-तन बुझा हुआ ज्यों दीप,
मनुज स्वाती-घन का लघु बिन्दु, बने 'नर-रत्न' शुभ्र कृति-सीप।

मर्त्य वैद्यों का क्या उपचार, अनश्वर ईश्वर अच्युत वैद्य,
स्वास्थ्य-प्रद, स्निग्ध, सुमधुर हो ग्राह्य देह के पोषण का नैवेद्य।
विषय का ज्यों-ज्यों हो उपभोग, इन्द्रियाँ अधिक-अधिक उद्दण्ड,
अग्नि को ज्यों-ज्यों आहुति-दान, भयावह लपटें अधिक प्रचण्ड।

न विषयेन्द्रिय—संसर्गाभाव मात्र है ब्रह्मचार विशुद्ध,
विषय की स्मृति का जहाँ अभाव उसी को कहते 'संयम' बुद्ध।
न देती कुछ को तमस्, प्रकाश सूर्य की, शशि की प्रभा प्रकीर्ण,
प्रेम का जिसके सीमित क्षेत्र, मनुज की अल्प वृत्ति सङ्कीर्ण।

मनुज, पशु, पक्षी, जलचर बीच कलुष मन रखता सदा दुराव,
अज्ञ वह आत्म-तत्व अनभिज्ञ न हो प्रति प्राणी पर सद्भाव।
न केवल हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, न केवल मानव ही परिवार,
न चेतन चर कि अचर तरु-वेलि, संत का प्रस्तर पर भी प्यार।

न उसके दृग में मेरु महान, न उसके दृग में रजकण क्षुद्र,
सभी जन मान्य, सभी जन भद्र, न कोई ब्राह्मण, कोई शूद्र।
रञ्च भी संत समक्ष महत्व न रखते श्वेत कि श्यामल रङ्ग,
न होता कभी शुभ्र बक शुद्ध, श्याम शुभ कोकिल, नग, मृग, भृङ्ग।

नहीं सब स्वर्ण—पात्र में दुग्ध, नहीं सब सुन्दर वस्तु पवित्र,
सुहृद जन होते हैं सर्वत्र, बन्धु भी होते कभी अमित्र।

संत को सभी धरा है तीर्थ, न कोई त्याज्य अपावन क्षेत्र,
दृष्टियाँ होतीं हैं तद्रूप कि जैसे होते दृग उपनेत्र[1]।

हृदय के भावों का प्रतिबिम्ब देखता है मानव अनिमेष,
अशुचि, शुचि उर के हैं गुण दोष, प्रेम या प्रणय कि राग द्वेश।
मृत्यु कह डरते जिससे लोग, जन्म का ही निश्चित परिणाम,
मृत्यु निशि, जन्म दिवस क्रम चक्र, मृत्यु नव जीवन का ही नाम।

अनश्वर आत्म तत्व अविकार, कहो तब कैसा हर्ष कि शोक?
भले मिट्टी के मिटें प्रदीप अग्नि का अमर अमल आलोक।
नीर-दुर्गुण का पतन प्रवाह सहज ही नीचे को निर्यत्न,
ऊर्ध्व-पथ जीवन का उत्थान नहीं रे सम्भव बिना प्रयत्न।

न उस में निश्चय बाह्य विकार कि जिसका आभ्यन्तर अविकार,
स्नेहपूरित यदि हृदय प्रदेश, दीप का ज्योतिर्मय संसार।
कभी होता सत्कार्य न व्यर्थ, न निष्फल होता सत्योच्चार,
भले हो व्रण पर शस्त्र—प्रयोग, लक्ष्य अंतर्हित हो उपचार।
भवार्णव—भ्रमर—भ्रांति—भय—मध्य ईश की अनुकम्पा पर्याप्त,
अबलता में उसका बल पूर्ण जहाँ जगके अवलम्ब समाप्त।
सुरभि का ज्यों शत पत्राधार, सचेतन, सर्वेश्वर अवलम्ब,
निविड़ तममय पथ, गत्यवरोध, अखिल अखिलेश्वर ज्योतिस्तम्भ।
मृत्तिका के मन्दिर—प्रासाद, विसर्जन अथवा नव निर्माण
चिरंतन, नित्य किंतु भू—तत्व, चिरंतन विविध रूप भगवान।
तुहिन या वाष्प, तरल, जल तत्व अनश्वर, ईश अनादि-अंनत,
विश्व की गति—विधि में गतिमान देख पाते उसको मतिमंत।

न रहते गुप्त कभी दुष्कृत्य, यत्न से छिपता नहीं विषाद,
कि हो ही आता अपने आप मुखाकृति पर अंकित अपराध।
हृदय में हो यदि श्रद्धा पूर्ण, कामना होती पूर्ण अवश्य,
समर्पण शरणागति का तत्व यदपि आश्चर्य न किंतु रहस्य।

१—चश्मे।

दान से ही मिलता प्रतिदान, मृत्यु से मिलता है अमरत्व,
बीज का ही पावन बलिदान हरित खेतों का गौरव—तत्व।
दुखद यदि हो प्रतीत आलस्य, करेगा मनुज न कभी प्रमाद,
पापका अनुभव यदि अनुताप, न छोड़ेगा सच्चरित—प्रसाद।
मनुज जीवन को एक असत्य नष्ट करने में सहज समर्थ,
दुग्ध-घट एक बिंदु विष-पात मृत्यु ही होता जिसका अर्थ।
न हो आहुति से ज्वाला पुष्ट, न विषयों से इंद्रियगण तुष्ट,
असम्भव नहीं किंतु दुस्साध्य विदूरण तृष्णाओं का कुष्ट।
न सम्भव तृण पर भी अधिपत्य न जिसका अपने पर अधिकार,
करे क्या जगको पथ—निर्देश कि जिसके बन्द दृगों के द्वार।
सौख्य-दुख, दिन-निशि, सृजन-विनाश, चिरंतन जगमें मिलन विछोह,
अम्बु में ज्यों अरविंद अलिप्त न करते विद्वद्वृन्द विमोह।
धर्म नर-जीवन से अविभिन्न, धर्म ही है जीवन का मूल्य,
मनुज—जीवन उत्पल—उपमान, धर्म है जिसमें सौरभ तुल्य।
अबल—अतिवादी, श्रम-उपराम, सबल-श्रम निर्विराम रह मौन,
नहीं जो निमिष मात्र निश्चेष्ट प्रकृति-सा शाश्वत श्रम रत कौन?
शुभ्र सत्पथ—सत्कृति—सोपान ईश की अनुकम्पा अवतीर्ण,
प्रज्वलित ज्यों ज्यों दीपकमाल अधिकतम उज्ज्वल पंथ प्रकीर्ण।
वस्तु जो जिससे हो उपलभ्य उसी से याचक सफल--प्रयत्न,
सुमन से सुरभि, वायुसे प्राण, ईशसे आयु कि जीवन—रत्न।
न बम्बूलों में सरस रसाल, न वायस—घर पञ्चम की तान,
व्याघ्र के उर न अहिंसोद्रेक, नहीं यम—द्वार प्राण का दान।
न दिनकर सम्मुख तमसोल्लास, न मृगपति-सम्मुख मुदित शृगाल,
न ईश्वर-सम्मुख भय-उद्भ्रांति, अभय प्रभु-मानस, मनुज-मराल।
विपुल आशा का विकल प्रवाह ईश ही सर्व शक्ति का केन्द्र,
वही रक्षा को सदा समर्थ न नश्वर बांधव या कि नरेन्द्र।

नियम में चलते जग के कार्य, भूमि, नक्षत्र कि सिंधु, प्रपात,
प्रलय का होता है संदेश निमिष का संस्राति—नियम—निपात।
मनुज से होता है तत्काल प्रबल प्रतिरोधित अन्यान्याय,
करे जो स्वयं स्वआत्म—विघात, भ्रांत दुर्मति का कौन उपाय ?

पूज्य बापू का हृदयतल
तल रहित मानस,
अचल अवगाहन ? असम्भव—
कल्पना का वश।
'नेति-नेति' पुकार बैठा
जबकि श्रुति का बल,
लेखनी ! बतला, तुझे किस
नाव का सम्बल ?